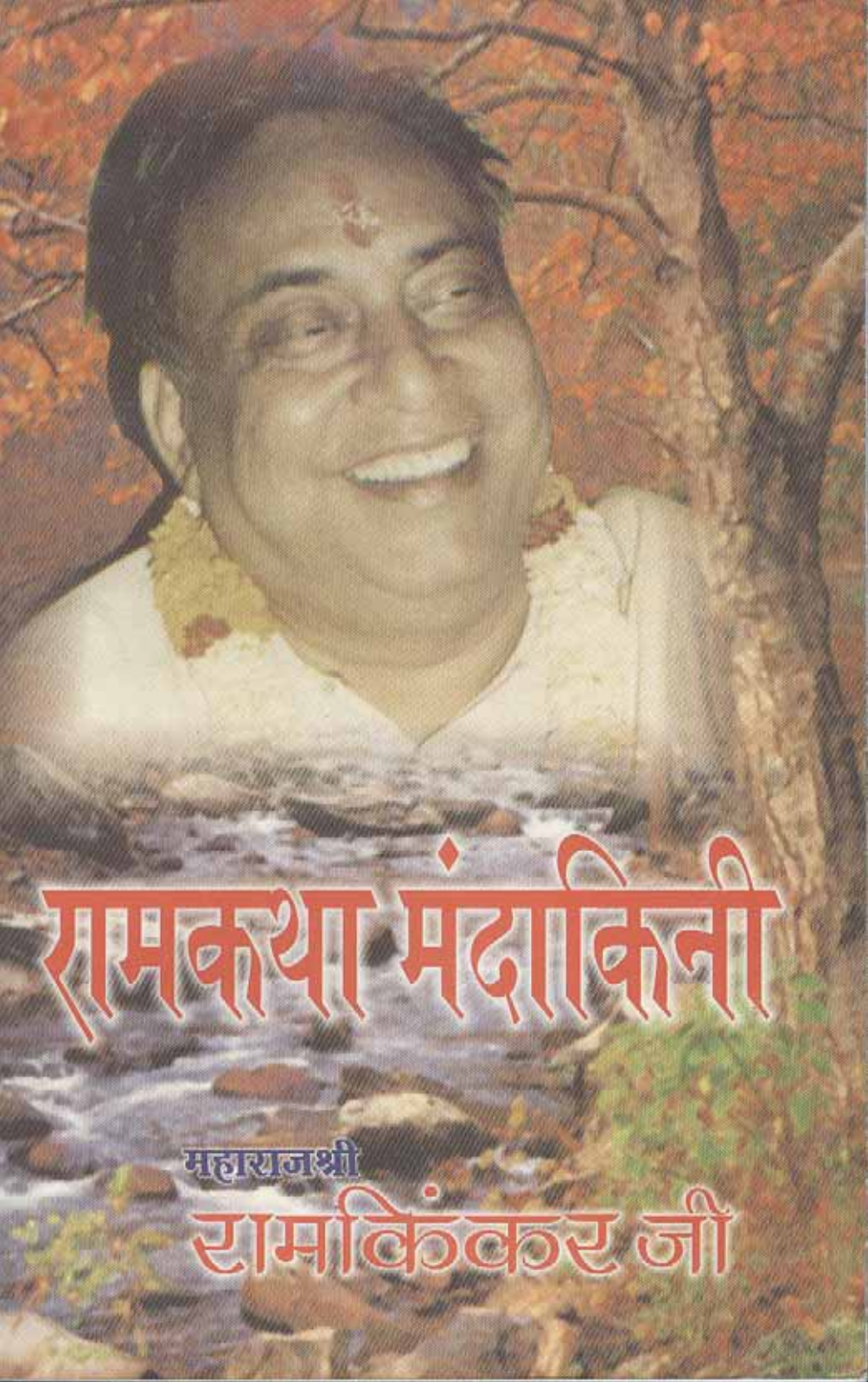
रामकथा मंदाकिनी
महाराजश्री
रामकिंकर जी

रामकथा मन्दाकिनी

भाष्यकार

पूज्य श्री रामकिंकरजी महाराज

प्रकाशक

रामायणम् ट्रस्ट

परिक्रमा मार्ग, जानकीघाट,

श्रीधाम अयोध्या-२२४१२३

प्रवचन स्थल : नागपुर

© रामायणम् ट्रस्ट

तृतीय संस्करण
संवत् २०६३, गुरु पूर्णिमा, ११ जुलाई २००६

सत्साहित्य हेतु
सहयोग राशि : रु. १००.००

संकलन/संपादन : मंदाकिनी श्रीरामकिंकर जी/उमाशंकर शर्मा

प्रकाशक
रामायणम् ट्रस्ट
परिक्रमा मार्ग, जानकीघाट,
श्रीधाम अयोध्या-२२४१२३
दूरभाष : ०५२७८-२३२१५२

संशोधन : डॉ. चन्द्रशेखर तिवारी

मुद्रक
रुचिका प्रिण्टर्स, दिल्ली, फोन : ०११-२२८२११७४

॥श्रीरामः शरणं मम॥

महाराजश्री : एक परिचय

प्रभु की कृपा और प्रभु की वाणी का यदि कोई सार्थक पर्यायवाची शब्द ढूँढ़ा जाए, तो वह हैं—प्रज्ञापुरुष, भक्तितत्त्व द्रष्टा, सन्त प्रवर, 'परमपूज्य महाराजश्री रामकिंकर जी उपाध्याय।' अपनी अमृतमयी, धीर, गम्भीर-वाणी-माधुर्य द्वारा भक्ति रसाभिलाषी-चातकों को, जनसाधारण एवं बुद्धिजीवियों को, नानापुराण निगमागम षट्शास्त्र वेदों का दिव्य रसपान कराकर रससिक्त करते हुए, प्रतिपल निज व्यक्तित्व व चरित्र में श्रीरामचरितमानस के ब्रह्म राम की कृपामयी विभूति एवं दिव्यलीला का भावात्मक साक्षात्कार करानेवाले पूज्य महाराज श्री आधुनिक युग के परम तेजस्वी मनीषी, मानस के अद्भुत शिल्पकार, रामकथा के अद्वितीय अधिकारी व्याख्याकार हैं।

भक्त-हृदय, रामानुरागी पूज्य महाराजश्री ने अपने अनवरत अध्यवसाय से श्रीरामचरितमानस की मर्मस्पर्शी भावभागीरथी बहाकर अखिल विश्व को अनुप्राणित कर दिया है। आपने शास्त्रदर्शन, मानस के अध्ययन के लिये जो नवीन दृष्टि और दिशा प्रदान की है, वह इस युग की एक दुर्लभ अद्वितीय उपलब्धि है—

धेनवः सन्तु पन्थानः दोग्धा हुलसिनन्दनः।
दिव्यराम-कथा दुग्धं प्रस्तोता रामकिंकरः॥

जैसे पूज्य महाराजश्री का अनूठा भाव दर्शन वैसे ही उनका जीवन दर्शन अपने आप में एक सम्पूर्ण काव्य है। आपके नामकरण में ही श्री हनुमान्‌जी की प्रतिच्छाया दर्शित होती है। वैसे ही आपके जन्म की गाथा में ईश्वर कारण प्रकट होता है। आपका जन्म एक नवम्बर सन् १९२४ को जबलपुर (मध्यप्रदेश) में हुआ। आपके पूर्वज मिर्जापुर के बरैनी नामक

गाँव के निवासी थे। आपकी माता परम भक्तिमती श्री घनेसरा देवी एवं पिता पूज्य पं. शिवनायक उपाध्यायजी रामायण के सुविज्ञ व्याख्याकार एवं हनुमान्‌जी महाराज के परम भक्त थे। ऐसी मान्यता है कि श्रीहनुमान्‌जी के प्रति उनके पूर्ण समर्पण एवं अविचल भक्तिभाव के कारण उनकी बढ़ती अवस्था में श्रीहनुमत्‌जयन्ती के ठीक सातवें दिन उन्हें एक विलक्षण प्रतिभायुक्त पुत्ररत्न की प्राप्ति दैवी कृपा से हुई। इसलिए उनका नाम 'रामकिंकर' अथवा राम का सेवक रखा गया।

जन्म से ही होनहार व प्रखर बुद्धि के आप स्वामी रहे हैं। आपकी शिक्षा-दीक्षा जबलपुर व काशी में हुई। स्वभाव से ही अत्यन्त संकोची एवं शान्त प्रकृति के बालक रामकिंकर अपनी अवस्था के बच्चों की अपेक्षा कुछ अधिक गम्भीर थे। एकान्तप्रिय, चिन्तनरत, विलक्षण प्रतिभावाले सरल बालक अपनी शाला में अध्यापकों के भी अत्यन्त प्रिय पात्र थे। बाल्यावस्था से ही आपकी मेधाशक्ति इतनी विकसित थी कि विलष्ट एवं गम्भीर लेखन, देश-विदेश का विशद साहित्य अल्पकालीन अध्ययन में ही आपके स्मृति पटल पर अमिट रूप से अंकित हो जाता था। प्रारम्भ से ही पृष्ठभूमि के रूप में माता एवं पिता के धार्मिक विचार एवं संस्कारों का प्रभाव आप पर पड़ा। परन्तु परम्परानुसार पिता के अनुगामी वक्ता बनने का न तो कोई संकल्प था, न कोई अभिरुचि।

पर कालान्तर में विद्यार्थी जीवन में पूज्य महाराजश्री के साथ एक ऐसी चामत्कारिक घटना हुई कि जिसके फलस्वरूप आपके जीवन ने एक नया मोड़ लिया। १८ वर्ष की अल्प अवस्था में जब पूज्य महाराजश्री अध्ययनरत थे, तब अपने कुलदेवता श्री हनुमान्‌जी महाराज का आपको अलौकिक स्वप्नदर्शन हुआ, जिसमें उन्होंने आपको वटवृक्ष के नीचे शुभासीन करके दिव्य तिलक का आशीर्वाद देकर कथा सुनाने का आदेश दिया। स्थूल रूप में इस समय आप बिलासपुर में अपने पूज्य पिता के साथ छुट्टियाँ मना रहे थे। यहाँ पिताश्री की कथा चल रही थी। ईश्वर संकल्पानुसार परिस्थिति भी अचानक कुछ ऐसी बन गयी कि अनायास ही, पूज्य महाराजश्री के श्रीमुख से भी पिताजी के स्थान पर कथा कहने का प्रस्ताव एकाएक निकल गया।

आपके द्वारा श्रोता समाज के सम्मुख यह प्रथम भाव प्रस्तुति थी। किन्तु कथन शैली व वैचारिक शृंखला कुछ ऐसी मनोहर बनी कि श्रोतासमाज विमुग्ध होकर, तन-मन व सुध-बुध खोकर उसमें अनायास ही बँध गया। आप तो रामरस की भावमाधुरी की बानगी बनाकर, वाणी का जादू कर मौन थे, किन्तु श्रोता समाज आनन्दमग्न होने पर भी अतृप्त था। इस प्रकार प्रथम प्रवचन से ही मानस प्रेमियों के अन्तर में गहरे पैठकर आपने अभिन्नता स्थापित कर ली।

ऐसा भी कहा जाता है कि २० वर्ष की अल्प अवस्था में आपने एक और स्वप्न देखा, जिसकी प्रेरणा से गोस्वामी तुलसीदास के ग्रन्थों के प्रचार एवं उनकी खोजपूर्ण व्याख्या में ही अपना समस्त जीवन समर्पित कर देने का दृढ़ संकल्प कर लिया। यह बात अकाट्य है कि प्रभु की प्रेरणा और संकल्प से जिस कार्य का शुभारम्भ होता है, वह मानवीय स्तर से कुछ अलग ही गति-प्रगति वाला होता है। शैली की नवीनता व चिन्तनप्रधान विचारधारा के फलस्वरूप आप शीघ्र ही विशिष्टतः आध्यात्मिक जगत् में अत्यधिक लोकप्रिय हो गए।

ज्ञान-विज्ञान पथ में पूज्यपाद महाराजश्री की जितनी गहरी पैठ थी, उतना ही प्रबल पक्ष, भक्ति साधना का, उनके जीवन में दर्शित होता है। वैसे तो अपने संकोची स्वभाव के कारण उन्होंने अपने जीवन की दिव्य अनुभूतियों का रहस्योद्‌घाटन अपने श्रीमुख से बहुत आग्रह के बावजूद नहीं किया। पर कहीं-कहीं उनके जीवन के इस पक्ष की पुष्टि दूसरों के द्वारा जहाँ-तहाँ प्राप्त होती रही। उसी क्रम में उत्तराखण्ड की दिव्य भूमि ऋषिकेश में श्रीहनुमान्‌जी महाराज का प्रत्यक्ष साक्षात्कार, निष्काम भाव से किए गए, एक छोटे से अनुष्ठान के फलस्वरूप हुआ!! वैसे ही श्री चित्रकूट धाम की दिव्य भूमि में अनेकानेक अलौकिक घटनाएँ परम पूज्य महाराजश्री के साथ घटित हुई। जिनका वर्णन महाराजश्री के निकटस्थ भक्तों के द्वारा सुनने को मिला!! परमपूज्य महाराजश्री अपने स्वभाव के अनुकूल ही इस विषय में सदैव मौन रहे।

प्रारम्भ में भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य लीलाभूमि वृन्दावन धाम के परमपूज्य महाराजश्री, ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी महाराज के आदेश पर आप वहाँ कथा सुनाने गए। वहाँ एक सप्ताह तक रहने का संकल्प था। पर यहाँ के भक्त एवं साधु-सन्त समाज में आप इतने लोकप्रिय हुए कि उस तीर्थधाम ने आपको ग्यारह माह तक रोक लिया। उन्हीं दिनों में आपको वहाँ के महान् सन्त अवधूत श्रीउड़िया बाबाजी महाराज, भक्त शिरोमणि श्रीहरिबाबाजी महाराज, स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी महाराज को

भी कथा सुनाने का सौभाग्य मिला। कहा जाता है कि अवधूत पूज्य श्रीउड़िया बाबा, इस होनहार बालक के श्रीमुख से निःसृत, विस्मित कर देने वाली वाणी से इतने अधिक प्रभावित थे कि वे यह मानते थे कि यह किसी पुरुषार्थ या प्रतिभा का परिणाम न होकर के शुद्ध भगत्वकृपा का प्रसाद है। उनके शब्दों में—"क्या तुम समझते हो, कि यह बालक बोल रहा है? इसके माध्यम से तो साक्षात् ईश्वरीय वाणी का अवतरण हुआ है।"

इसी बीच अवधूत श्रीउड़िया बाबा से संन्यास दीक्षा ग्रहण करने का संकल्प आपके हृदय में उदित हुआ और परमपूज्य बाबा के समक्ष अपनी इच्छा प्रकट करने पर बाबा के द्वारा लोक एवं समाज के कल्याण हेतु शुद्ध संन्यास वृत्ति से जनमानस सेवा की आज्ञा मिली।

सन्त आदेशानुसार एवं ईश्वरीय संकल्पानुसार मानस प्रचार-प्रसार की सेवा दिन-प्रतिदिन चारों दिशाओं में व्यापक होती गई। उसी बीच काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से आपका सम्पर्क हुआ। काशी में प्रवचन चल रहा था। उस गोष्ठी में एक दिन भारतीय पुरातत्त्व और साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् एवं चिन्तक श्री वासुदेव शरण अग्रवाल आपकी कथा सुनने के लिये आए और आपकी विलक्षण एवं नवीन चिन्तन शैली से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति श्री वेणीशंकर झा एवं रजिस्ट्रार श्री शिवनन्दनजी दर से Prodigious (विलक्षण प्रतिभायुक्त) प्रवक्ता के प्रवचन का आयोजन विश्वविद्यालय प्रांगण में रखने का आग्रह किया। आपकी विद्वत्ता इन विद्वानों के मनोमस्तिष्क को ऐसे उद्वेलित कर गयी कि आपको अगले वर्ष से 'विजिटिंग प्रोफेसर' के नाते काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में व्याख्यान देने के लिये निमन्त्रित किया गया। इसी प्रकार काशी में आपका अनेक सुप्रसिद्ध साहित्यकार जैसे श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी, श्री महादेवी वर्मा से साक्षात्कार हुआ एवं शीर्षस्थ सन्तप्रवर का सान्निध्य प्राप्त हुआ।

अतः पूज्य महाराजश्री परम्परागत कथावाचक नहीं हैं, क्योंकि कथा उनका साध्य नहीं, साधन है। उनका उद्देश्य है भारतीय जीवन पद्धति की समग्र खोज अर्थात् भारतीय मानस का साक्षात्कार। उन्होंने अपने विवेक प्रदीप्त मस्तिष्क से, विशाल परिकल्पना से श्रीरामचरितमानस के अन्तर्रहस्यों का उद्घाटन किया है। आपने जो अभूतपूर्व एवं अनूठी दिव्य दृष्टि प्रदान की है, जो भक्ति-ज्ञान का विश्लेषण तथा समन्वय, शब्द ब्रह्म के माध्यम से विश्व के सम्मुख रखा है, उस प्रकाश स्तम्भ के दिग्दर्शन में आज सारे इष्ट मार्ग आलोकित हो रहे हैं! आपके अनुपम शास्त्रीय पाण्डित्य द्वारा, न केवल आस्तिकों का ही ज्ञानवर्धन होता है अपितु नयी पीढ़ी के शंकालु युवकों में भी धर्म और कर्म का भाव संचित हो जाता है। 'कीरति भनिति भूति भलि सोई'....के अनुरूप ही आपने ज्ञान की सुरसरि अपने उदार व्यक्तित्व से प्रबुद्ध और साधारण सभी प्रकार के लोगों में प्रवाहित करके 'बुध विश्राम' के साथ-साथ सकल जन रंजनी बनाने में आप यज्ञरत हैं। मानस सागर में बिखरे हुए विभिन्न रत्नों को सँजोकर आपने अनेक आभूषण रूपी ग्रन्थों की सृष्टि की है। मानस-मन्थन, मानस-चिन्तन, मानस-दर्पण, मानस-मुक्तावली, मानस-चरितावली जैसी आपकी अनेकानेक अमृतमयी अमर कृतियाँ हैं जो दिग्दिगन्तर तक प्रचलित रहेंगी। आज भी वह लाखों लोगों को रामकथा का अनुपम पीयूष वितरण कर रही हैं और भविष्य में भी अनुप्राणित एवं प्रेरित करती रहेंगी। तदुपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय रामायण सम्मेलन नामक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के भी आप अध्यक्ष रहे।

निष्कर्षतः आप अपने प्रवचन, लेखन और शिष्य परम्परा द्वारा जिस रामकथा पीयूष का मुक्तहस्त से वितरण कर रहे हैं, वह जन-जन के तप्त एवं शुष्क मानस में नवशक्ति का सिंचन कर रही है, शान्ति प्रदान कर समाज में आध्यात्मिक एवं दार्शनिक चेतना जाग्रत् कर रही है।

अतः परमपूज्य महाराजश्री का स्वर उसी वंशी के समान है, जो 'स्वर सन्धान' कर सभी को मन्त्रमुग्ध कर देती है। वंशी में भगवान् का स्वर ही गूँजता है। उसका कोई अपना स्वर नहीं होता। परमपूज्य महाराजश्री भी एक ऐसी वंशी हैं, जिसमें भगवान् के स्वर का स्पन्दन होता है। साथ-साथ उनकी वाणी के तरकश से निकले, वे तीक्ष्ण विवेक के बाण अज्ञान-मोह-जन्य पीड़ित जीवों की भ्रान्तियों, दुर्वृत्तियों एवं दोषों का संहार करते हैं। यों आप श्रद्धा और भक्ति की निर्मल मन्दाकिनी प्रवाहित करते हुए महान् लोक-कल्याणकारी कार्य सम्पन्न कर रहे हैं।

रामायणम् ट्रस्ट परम पूज्य महाराजश्री रामकिंकरजी द्वारा संस्थापित एक ऐसी संस्था है जो तुलसी साहित्य और उसके महत् उद्देश्यों को समर्पित है। मेरा मानना है कि परम पूज्य महाराजश्री की लेखनी से ही तुलसीदासजी को पढ़ा जा सकता है और उन्हीं की वाणी से उन्हें सुना भी जा सकता है। महाराजश्री के साहित्य और चिन्तन को समझे बिना तुलसीदासजी के हृदय को समझ पाना असम्भव है।

रामायणम् आश्रम अयोध्या जहाँ महाराजश्री ने ९ अगस्त सन् २००२ को समाधि ली वहाँ पर अनेकों मत-मतान्तरों वाले लोग जब साहित्य प्राप्त करने आते हैं तो महाराजश्री के प्रति वे ऐसी भावनाएँ उड़ेलते हैं कि मन होता है कि महाराजश्री को इन्हीं की दृष्टि से देखना चाहिए। वे अपना सबकुछ न्यौछावर करना चाहते हैं उनके चिन्तन पर। महाराजश्री के चिन्तन ने रामचरितमानस के पूरे घटनाक्रम को और प्रत्येक पात्र की मानसिकता को जिस तरह से प्रस्तुत किया है उसको पढ़कर आपको ऐसा लगेगा कि आप उस युग के एक नागरिक हैं और वे घटनाएँ आपके जीवन का सत्य हैं।

हम उन सभी श्रेष्ठ वक्ताओं के प्रति भी अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं तो महाराजश्री के चिन्तन को पढ़कर प्रवचन करते हैं और मंच से उनका नाम बोलकर उनकी भावनात्मक आरती उतारकर अपने बड़प्पन का परिचय देते हैं।

रामायणम् ट्रस्ट के सचिव श्री मैथिलीशरण शर्मा 'भाईजी' विगत २९ वर्षों से महाराजश्री की साहित्यिक सेवा का प्रमुख कार्य देख रहे हैं। इतने वर्षों से मैं यही देखती हूँ कि वे प्रतिदिन यही सोचते रहते हैं कि किस तरह महाराजश्री के विचार अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचें। साथ ही उनके सहयोगी डॉ. चन्द्रशेखर तिवारी इस महत्कार्य को पूर्ण करने में अपना योगदान देते हैं, उनको भी मैं हार्दिक मंगलकामनाएँ एवं आशीर्वाद प्रदान करती हूँ। रामायणम् ट्रस्ट के सभी ट्रस्टीगण इस भावना से ओत-प्रोत हैं कि ट्रस्ट की सबसे प्रमुख सेवा यही होनी चाहिए कि वह एक स्वस्थ चिन्तन के प्रचार-प्रसार में जनता को दिशा एवं दृष्टि दे और ऐसा सन्तुलित चिन्तन पूज्य श्रीरामकिंकरजी महाराज में प्रकाशित होता और प्रकाशित करता दिखता है। सभी पाठकों के प्रति मेरी हार्दिक मंगलकामनाएँ!

प्रभु की शरण में

—मन्दाकिनी श्रीरामकिंकरजी

क्रम

प्रथम प्रवचन	१३
द्वितीय प्रवचन	३५
तृतीय प्रवचन	६०
चतुर्थ प्रवचन	९१
पंचम प्रवचन	११३
षष्ठ प्रवचन	१३७
सप्तम प्रवचन	१६०
अष्टम प्रवचन	१८६
नवम प्रवचन	२०५

॥श्रीरामः शरणं मम॥

प्रथम प्रवचन

भगवान् श्रीरामभद्र की महती अनुकम्पा से पुनः इस वर्ष यह सुखद संयोग मिला है, जब संगीत कला मन्दिर ट्रस्ट तथा संगीत कला मन्दिर के तत्त्वावधान में भगवान् श्रीराम की मंगलमयी गाथा की कुछ चर्चा की जा सके। यह परम्परा उन्तीस वर्षों से चलती आ रही है और आज तीसवें वर्ष में प्रवेश कर रही है। सचमुच कथा की यह अनवरत चलनेवाली परम्परा प्रभु की कृपा तथा आप सबकी श्रद्धा भावना के संयोग के बिना सम्भव नहीं थी। इस सन्दर्भ में मुझे पचीसवें वर्ष की भी विस्मृति नहीं होती है। उस समय ब्रह्मलीन श्रीघनश्यामदासजी बिरला यहाँ आए थे और उन्होंने बड़े भावपूर्ण उद्‌गार श्रीरामकथा के सन्दर्भ में व्यक्त किए थे और आज जब हम तीसवें वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं तो कथा के प्रति उनके उद्‌गारों की स्मृति आना स्वाभाविक है। इससे बढ़ करके कोई प्रसन्नता और सन्तोष की बात नहीं हो सकती कि उनके द्वारा प्रारम्भ की गयी परम्परा को उनके सुपुत्र श्रीबसन्तकुमारजी बिरला और सौभाग्यवती सरलाजी के द्वारा आगे बढ़ाया जा रहा है। और अब आइए! प्रभु के प्रति नमन करते हुए इस बार जो कथा प्रसङ्ग चुना गया है उस पर एक दृष्टि डालने की चेष्टा करें। इस बार के कथा प्रसङ्ग में आन्तरिक चित्रकूट के निर्माण के सूत्र दिए गये हैं। मानस के प्रारम्भ में गोस्वामीजी ने यह कहा कि—

रामकथा मन्दाकिनी चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुबीर बिहारु॥१/३१/०

सबसे पहले इस दोहे के सरल अर्थ पर एक बार दृष्टि डाल लें तथा उसके पश्चात् क्रमशः उसके शब्दों पर विचार करें। इस दोहे में रामकथा

की तुलना मन्दाकिनी और चित्त की श्रीचित्रकूट के वन से की गयी है। इसमें गोस्वामीजी कहते हैं कि भगवान् श्रीराम की कथा ही मन्दाकिनी है और हमारा जो अचल चित्त है वही चित्रकूट है। या यों कह लीजिए कि जिस समय हमारा चित्त अचल होता है उस समय हमारे अन्तःकरण में ही चित्रकूट की सृष्टि हो जाती है और जैसे चित्रकूट में वन है इसी प्रकार से भगवत्प्रेम ही वन है।

पहले कथा शब्द पर मैं आपका ध्यान आकृष्ट करूँगा। कथा शब्द का सरल-सा अर्थ है जो 'कही जाय',—वह कथा है। पर कथा शब्द पर जितने विस्तार से और जितने रूपों में श्रीरामचरितमानस में दृष्टि डाली गयी है अगर उसको दृष्टिगत रखकर हम विचार करें तो कथा शब्द की गहराई तथा महानता पर हमारा ध्यान जाएगा। पहला सूत्र तो यह है कि कथा सेतु है। जैसे नदी के दो किनारों के बीच में यदि सेतु हो तो दोनों किनारे थोड़ी दूर रहकर भी मिले हुए होते हैं। इसी तरह से भूतकाल तथा वर्तमान काल में भी एक दूरी है। यद्यपि व्यक्ति वर्तमान में होते हुए भी भूतकाल से जुड़ा हुआ है, किन्तु वह प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता। इस प्रकार व्यक्ति के सामने यदि एक कालगत दूरी है तो दूसरी देशगत और तीसरी दूरी है व्यक्तिगत।

जब आप इतिहास की घटना को पढ़ते हैं तो वह घटना किसी एक काल में घटित हुई है और वह भूतकाल था, किन्तु हम वर्तमान में हैं। और घटना जब घटित होती है तो भूगोल में किसी एक स्थान-विशेष में घटित होती है और हम जहाँ बैठे हुए हैं उसमें देशगत दूरी भी है। इसका अभिप्राय यह है कि हम भले ही श्रीअवध की चर्चा करें; किन्तु हम तो शरीर से बैठे हैं कलकत्ता में और कलकत्ता तथा अयोध्या के बीच देशगत एक दूरी है। इसी प्रकार से जब हम त्रेतायुग की घटनाओं का अथवा पुरानी किसी घटना का वर्णन करते हैं तो मानो कालगत दूरी होती है। जब इतिहास के पात्रों का वर्णन किया जाता है तो ऐसा लगता है कि ये व्यक्ति कभी थे और आज नहीं हैं। इस तरह से ये तीनों दूरियाँ सर्वदा विद्यमान रहती हैं। किन्तु भई! समाज में आवश्यकता देश, काल और व्यक्ति की इस दूरी को मिटाने की है। मान लीजिए कोई भूतकाल आपको बड़ा प्रिय है, कोई स्थान आपको बहुत प्रिय है अथवा किसी व्यक्ति के

प्रति आपको राग है, किन्तु यह सब होते हुए भी व्यावहारिक दूरी बनी ही रहेगी। परन्तु दो ही ऐसे उपाय हो सकते हैं जिनसे हम उस देश, काल और व्यक्ति से अपने आपको जोड़ सकें जिसका वर्णन इतिहास में किया गया है। और वे उपाय हैं—कि या तो हम स्वयं उस देश, काल, व्यक्ति के पास पहुँच जाएँ या फिर उस देश, काल, व्यक्ति को हम अपने वर्तमान में ला सकें। इसका सीधा-सा अभिप्राय है कि जैसे नदी के दोनों किनारों पर यदि व्यक्ति खड़े हों तो इस किनारे का व्यक्ति अगर उस किनारे चला जाय अथवा उस किनारे का व्यक्ति इस किनारे आ जाय तो दूरी मिट जाएगी। इसी प्रकार या तो व्यक्ति भूत में चला जाय और या फिर भूत को ही वर्तमान मे ले आवे। वस्तुतः भूत में चले जाना यह इतिहास का अध्ययन है तथा भूत को वर्तमान में ले आना यह भक्ति शास्त्र है। जब आप इतिहास पढ़ते हैं तो उस समय तक अपने आपको उस देश, काल, व्यक्ति से तदाकार पाते हैं पर इतिहास पढ़ लेने के बाद आपको यह अनुभव होता है कि ये घटनाएँ कभी घटित हुई थीं और वे हमारे जीवन से दूर हैं। पर कथा की प्रक्रिया का तात्पर्य सर्वथा अनोखा है। इसे हम एक सरल दृष्टान्त के माध्यम से समझ सकते हैं।

यदि हमें किसी भूतकाल का वर्णन पढ़कर बड़ा अच्छा लग रहा है, किन्तु समस्या यह है कि वह भूत वर्तमान में तो नहीं आ सकता है। मान लीजिए त्रेतायुग में रामराज्य एक आदर्श राज्य था और रामराज्य का वर्णन पढ़कर व्यक्ति को स्वाभाविक रूप में प्रसन्नता होगी ही, किन्तु उसको पढ़ने मात्र से, व्यक्ति की समस्याओं का समाधान तो नहीं हो जाएगा। भूतकाल के रामराज्य की श्रेष्ठता को यदि हम वर्तमान में नहीं ला सकते तो हमारा आनन्द केवल बौद्धिक आनन्द है, उसकी परिणति व्यावहारिक रूप में नहीं है, उसका पूरा लाभ नहीं है। किन्तु इतिहास के द्वारा उत्पन्न की गयी जो देश, काल तथा वैयक्तिक दूरियाँ हैं उन्हें मिटाने का जो अद्‌भुत सेतु है उसी का नाम कथा है। आइए! इस सन्दर्भ में अब श्रीरामचरितमानस के कई प्रसंगों पर दृष्टि डालें और उनका अन्तरंग तात्पर्य समझने की चेष्टा करें।

इस दोहे में चित्त की तुलना चित्रकूट से की गई, इसका अभिप्राय क्या है? सर्वप्रथम इस पर विचार करें। आप रामकथा में यह पढ़ते अथवा

सुनते हैं कि जब भगवान् श्रीराम ने अयोध्या के राज्य का परित्याग किया तब वे चित्रकूट में जाकर बसे और वहीं भगवान् श्रीराम तथा श्रीभरत का मिलन हुआ। लेकिन पढ़ने अथवा सुनने के बाद यह लगता है कि जो चित्रकूट त्रेतायुग में था आज यदि उसका रूप है भी तो हमारे यहाँ से दूर है। और इसी प्रकार जब हम यह पढ़ते हैं कि त्रेतायुग में हुआ तो हमें लगता है कि हम तो कलियुग में बैठे हुए हैं और जब हमें यह सुनने को मिलता है कि श्रीभरत और भगवान् श्रीराम का मिलन होने पर श्रीभरत भाव में डूब गए, तो हमें लगता है कि जब श्रीभरत का मिलन हुआ तो उनको आनन्द की अनुभूति हुई होगी, हमें इससे क्या लाभ? इसलिए गोस्वामीजी ने एक बड़ी मीठी बात कही—लंका विजय के पश्चात् जब भगवान् श्रीराम लौट करके अयोध्या आए और श्रीभरत से उनका मिलन हुआ तो उस मिलन की घटनाओं का वर्णन कथा के माध्यम से कर रहे हैं भगवान् शंकर और श्रोता हैं पार्वती। जब पार्वतीजी सुनती हैं कि—

गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज।
नमत जिन्हहि सुर मुनि संकर अज॥
परे भूमि नहिं उठत उठाये।
बर करि कृपासिंधु उर लाए॥
स्यामल गात रोम भए ठाढ़े।
नव राजीव नयन जल बाढ़े॥७/४/६

राजीव लोचन स्रवत जल तन ललित पुलकावलि बनी।
अति प्रेम हृदयँ लगाइ अनुजहि मिले प्रभु त्रिभुअन धनी॥
प्रभु मिलन अनुजहि सोह मो पहिं जाति नहिं उपमा कही।
जनु प्रेम और सिंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही॥

भगवान् श्रीराघवेन्द्र विमान से उतर चुके हैं पर श्रीभरत प्रभु से जान-बूझकर कुछ दूरी बनाए हुए हैं। क्योंकि भरत को चित्रकूट की याद भूली नहीं। चित्रकूट में हुआ यह था कि जब श्रीभरत सारे गुरुजनों और समाज को लेकर गये तो उन्होंने सारे अयोध्यावासियों को मन्दाकिनी के किनारे स्थापित किया कि आप लोग यहाँ विराजमान रहिए और मैं जाकर आश्रम में प्रभु के चरणों में साष्टांग प्रणाम करूँगा। वस्तुतः दैन्य के कारण श्रीभरत के

मन में यह भय समाया हुआ था कि कहीं ऐसा न हो—

रामु लखनु सिय सुनि मम नाऊँ।
उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ॥२/२३२/८

पता नहीं प्रभु मुझसे कितना रुष्ट हैं, लक्ष्मण भैया को पता नहीं मुझ पर कितना क्रोध है? और इतने बड़े समाज के सामने वह क्रोध प्रकट न हो इसलिए मैं अकेले में ही जाकर प्रभु को प्रणाम कर लूँ, यह श्रीभरत की भावना थी।

जब श्रीभरत गये और भगवान् राम का मिलन हुआ तो श्रीराम अपने रामत्व को भूल गये और श्रीभरत अपने भरतत्व को भूल गए! न तो भगवान् श्रीराम ने भरत से पूछा कि भरत! मैंने सुना है कि तुम्हारे साथ गुरुदेव आए हुए हैं, माताएँ आई हुई हैं और अयोध्या के नागरिक आए हुए हैं, किन्तु वे लोग कहाँ हैं? और श्रीभरत भी मिलन के रस में ऐसे डूबे कि वे भी प्रभु को स्मरण नहीं दिला पाए कि माताएँ मन्दाकिनी के तट पर प्रतीक्षा कर रही हैं, गुरुदेव प्रतीक्षा कर रहे हैं। किन्तु दोनों के द्वारा ऐसा कार्य कैसे हो गया; इस सम्बन्ध में गोस्वामीजी ने एक सुन्दर-सा सूत्र दे दिया। उनसे पूछा गया कि श्रीराम और श्रीभरत बोल क्यों नहीं रहे हैं? श्रीराम भरत से यह क्यों नहीं पूछ रहे हैं कि भरत तुम्हारी यात्रा कुशलपूर्वक तो हुई? श्रीभरत प्रभु से यह क्यों नहीं कह रहे हैं कि प्रभु और लोग भी आए हुए हैं? और तब तुलसीदासजी ने उत्तर देते हुए कहा कि समस्या यह है कि—

कोउ कछु कहइ न कोउ कछु पूँछा।
प्रेम भरा मन निज गति छूँछा॥२/३४१/७

वस्तुतः यहाँ पर तो मन परिपूर्ण रूप से प्रेमरस में डूब गया है। इस मिलन में न तो मन रह गया है, न बुद्धि ही रही, न ही चित्त रहा और न अहंकार रह गया—

परम प्रेम पूरन दोउ भाई।
मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥२/२४०/२

इसलिए इस मिलन की एक विलक्षणता यह भी है कि इस मिलन में न तो शरीर में रोमाञ्च हुआ, न आँखों में आँसू आए, न ही कुशल-प्रश्न हुआ और न गला रुँधा। साधारणतः प्रेम के व्याकुलता भरे जो लक्षण माने

जाते हैं वे लक्षण कोई नहीं आए। और आएँ भी तो कैसे? क्योंकि शरीर में रोमाञ्च तो तब होता है, आँखों में आँसू तो तब आते हैं जब मन में आनन्द की अनुभूति हो रही हो। और जहाँ मन ही न रह गया हो तो फिर यह लक्षण कहाँ से प्रकट होंगे? शिष्टाचार के जो प्रश्न करते हैं वे बुद्धि से करते हैं पर जहाँ बुद्धि ही न रह गयी हो वहाँ भला परस्पर कुशल प्रश्न कैसे किया जाएगा? और अपना मान होने पर ही, अपने मान के बाद ही व्यक्ति दूसरे से प्रश्न करता है पर यहाँ पर तो अहं शेष नहीं रह गया है। यहाँ पर न तो राम को अपने रामत्व की स्मृति है और न ही भरत को अपने भरतत्व की याद है। जहाँ पर दो व्यक्ति अलग हैं ही नहीं तब मानो चित्त के संस्कार पूरी तरह से मिट गए। निर्विकल्प समाधि में जैसे चित्त शून्य हो जाता है, समाधि की ठीक वही स्थिति चित्रकूट में हो गयी और तब सचमुच ऐसा दिव्य मिलन हुआ कि जिसका वर्णन करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं—

परम प्रेम पूरन दोउ भाई।
मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥
कहहु सुप्रेम प्रगट को कराई।
केहि छाया कवि मति अनुसरई॥२/२४०/२

इधर तो यह श्रीभरत और भगवान् राम का दिव्य मिलन हो रहा है और उधर गुरु वसिष्ठ तथा माताएँ प्रतीक्षा कर रही हैं कि इतना विलम्ब हो गया अभी श्रीभरत आए क्यों नहीं? लेकिन इस प्रसंग में धन्यवाद तो देना चाहिए केवट को। गोस्वामीजी ने चुनाव भी बहुत बढ़िया किया। उन्होंने कहा—

तेहि अवसर केवट धीरजु धरि।

इस अवसर पर केवट ने धैर्य धारण किया। किसी ने गोस्वामीजी से पूछा कि केवट ने धीरज धारण क्यों किया? उन्होंने कहा कि जब बाढ़ आने पर व्यक्ति डूबने लगता है तो एकमात्र केवट ही ऐसा होता है जो उस स्थिति से अपने को बचा सकता है और आज जब प्रेम की बाढ़ आई तो उसमें सभी डूब गये लेकिन भई! यह तो केवट था, इसने किसी तरह से अपने आपको डूबने से बचाया। और केवल बचाया ही नहीं अपितु जो डूब रहे थे उनको निकाला भी। और निकालने के लिये उपाय

कितना बढ़िया किया? निकालने वाला व्यक्ति अगर बुद्धिमान् न हो तो डूबने वाला इतना कस कर गला पकड़ता है कि वह बचाने वाले को भी डुबा देता है क्योंकि डूबने वाला उस समय अत्यन्त घबराया हुआ रहता है इसलिए जब भी कोई उसको बचाने के लिये कूदता है तो वह पूरी तरह से उसको पकड़ने की चेष्टा करता है और उसका परिणाम यह होता है कि बचाने वाला भी डूब जाता है। केवट को लगा कि कहीं हम भी इसमें न डूब जाएँ। इसलिए उसने बड़ी चतुराई से इन लोगों को निकाला। वैसे डूबने वाले को बचाने की एक पद्धति है जिसमें दूर से कपड़ा फेंक दिया जाता है और डूबने वाला व्यक्ति जब उसे पकड़ लेता है तो सामने वाले एक या दो व्यक्ति खींचकर उसे बचा लेते हैं। केवट ने भी यही उपाय किया। उसने शब्दों की एक बड़ी सुन्दर रस्सी बनाई और उस रस्सी में खींचने वालों को जोड़ दिया। और वह शब्दों की रस्सी बनाते हुए केवट ने प्रभु से कहा—

नाथ साथ मुनिनाथ के मातु सकल पुर लोग।
सेवक सेनप सचिव सब आए बिकल बियोग॥२/२४२/०

महाराज! गुरुजी भी आए हुए हैं। उसका अभिप्राय था कि जब गुरुजी का नाम सुनेंगे तो प्रभु प्रेम के स्थान पर विवेक में स्थिर हो जावेंगे। अगर खींचते समय स्वयं डूबने का डर हो और बाहर अगर कोई बहुत भारी वस्तु हो तो उसको पकड़ लीजिए जिससे कि स्वयं खिंच जाने का डर नहीं रहेगा। और गुरु का तो अर्थ ही होता है भारी, इसलिए सबसे पहले गुरुजी का नाम लिया। उसके पश्चात् फिर प्रेम की भी स्मृति दिलाई—

नाथ साथ मुनिनाथ के मातु सकल पुर लोग।
सेवक सेनप सचिव सब आए बिकल बियोग॥२/२४०/०

केवट ने माताएँ, सेवक, सेनापति, मन्त्री आदि का नाम लेकर शब्दों का ऐसा रस्सा इस प्रकार जोड़ा कि जिसमें राजनीति, प्रीति, धर्म, मर्यादा तथा विवेक सभी दृष्टि विद्यमान है। केवट ने कहा, प्रभु! सब लोग आपकी प्रतीक्षा में हैं और सचमुच शब्द सुनते ही भगवान् श्रीराघवेन्द्र उस प्रेम समुद्र से निकलकर गुरु वसिष्ठ की ओर भागे। शब्द भी यही है—

सील सिन्धु सुनि गुर आगवनू।
सिय समीप राखे रिपुदवनू॥

चले सबेग रामु तेहि काला।
धीर धरम धुर दीनदयाला॥२/२४२/१

गोस्वामीजी कहते हैं कि अब प्रभु बदल गए। पहले जो श्रीराम, श्रीभरत से मिलने गये थे वे दूसरे राम थे और अब जो गुरु वसिष्ठ की ओर दौड़ रहे हैं वे दूसरे हैं। जब श्रीभरत से मिलने के लिये प्रभु बढ़ रहे थे तब गोस्वामीजी ने कहा था कि ये राम तो प्रेम में अधीर राम हैं–**'उठे राम सुनि प्रेम अधीरा।'**–और गुरु वसिष्ठ का नाम सुनकर जो राम चले उनका परिचय देते हुए कहा कि वे 'धीर' राम हैं–

धीर धरम धुर दीनदयाला।

इस प्रकार मानो एक 'अधीर' राम हैं तथा दूसरे 'धीर' राम हैं। और यह बिल्कुल ठीक है क्योंकि अगर प्रेम में कोई धीर रह जाय तो वह प्रेम किसी काम का नहीं। और विवेक में धीरता खो जाय तो विवेक किसी काम का नहीं। मानो प्रेम की सार्थकता अधीरता में है और विवेक की सार्थकता धीरता में। श्रीभरत से मिलन प्रेम का मिलन था। इसलिए अधीरता थी और इस समय धर्म के स्वरूप गुरुदेव की ओर चले; इसलिए भगवान् श्रीराम स्वयं धीरता की स्थिति में आ गए, मर्यादा तथा धर्म की स्थिति में आ गये और तब प्रभु ने गुरु वसिष्ठ के चरणों में दूर से साष्टाङ्ग प्रणाम किया, गुरुदेव ने उन्हें आशीर्वाद दिया और अन्य सभी लोग भी प्रभु का दर्शन पा करके धन्य हो जाते हैं।

वर्णन आता है कि भगवान् श्रीराम जब लंका विजय के पश्चात् लौटकर अयोध्या आए उस समय श्रीभरत के समान प्रसन्नता भला किसको हो सकती थी, परन्तु श्रीभरत प्रभु से मिलने के लिये सबसे आगे नहीं बढ़े। वस्तुतः श्रीभरत अत्यन्त शीलवान् हैं और प्रभु की मर्यादा की रक्षा की उनको सर्वाधिक चिन्ता है। एक बार जो घटना हो गयी उसके कारण वे सोचते हैं कि अरे! मेरे कारण प्रभु भी विस्मृत हो गये और मैं गुरुजी तथा माताओं को भूल गया। इसलिए श्रीभरत ने इस बार यह निर्णय कर लिया कि इतनी अधीरता नहीं आनी चाहिए। यदि अकेले हों और पूरी तरह बेहोशी आ जाय तो कोई बात नहीं लेकिन जहाँ सारा समाज है वहाँ पर तो मर्यादा की मुख्यता होनी ही चाहिए। इसलिए जब प्रभु पुष्पक विमान से उतरे तो श्रीभरत आगे नहीं बढ़े। यद्यपि प्रभु श्रीभरत को ढूँढ़

रहे हैं पर श्रीभरत जान-बूझकर छिप रहे हैं कि जब सब लोग प्रभु से मिलकर सन्तुष्ट हो जाएँ उसके पश्चात् मैं प्रभु के चरणों में प्रणाम करूँ। यह श्रीभरत की भावना है। गोस्वामीजी ने कहा कि विमान से उतरने के पश्चात् भगवान् श्रीराघवेन्द्र ने देखा तो सबसे पहले गुरु वसिष्ठ सामने दिखाई पड़े और मर्यादा में स्थित भगवान् श्रीराम ने गुरुदेव के चरणों में साष्टांग दण्डवत किया, समस्त ब्राह्मणों को प्रणाम किया–

बामदेव बसिष्ठ मुनि नायक।
देखे प्रभु महि धरि धनु सायक॥
धाई धरे गुरु चरन सरोरूह।
अनुज सहित अति पुलक तनोरुह॥
भेंटि कुसल बूझी मुनिराया।
हमरे कुसल तुम्हारिहि दाया॥
सकल द्विजन्ह मिलि नायउ माथा।
धर्म धुरन्धर रघुकुल नाथा॥७/४/२

फिर वही धर्म धुरन्धर राम जो गुरु वसिष्ठ से मिल रहे हैं, ब्राह्मणों को प्रणाम कर रहे हैं। जब सबसे मिल चुके तब पीछे से श्रीभरत ने दौड़ करके प्रभु के चरण कमलों को पकड़ लिया–

गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज।
नमत जिन्हहिं सुर मुनि संकर अज॥७/४/६

और यहाँ पर अन्तर है। चित्रकूट में श्रीरभरत ने प्रभु के चरणों को नहीं पकड़ा अपितु दूर से ही प्रभु को प्रणाम किया था–

पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं।
भूतल परे लकुट की नाईं॥२/२३६/२

और इस समय–

गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज।

इस प्रकार दोनों मनःस्थितियों में भिन्नता है। उस समय की भावना यह थी कि प्रभु! मैं तो आपके समक्ष मुँह दिखाने योग्य नहीं हूँ, आपको स्पर्श करने योग्य भी नहीं हूँ। वस्तुतः यह भरत तो गिरा हुआ है और इस गिरे हुए भरत को उठाना केवल आपकी कृपा के द्वारा ही सम्भव है। इसलिए वे निकट न जा करके दूर से प्रणाम करते हैं। और इस समय

श्रीभरत की भावना यह है कि प्रभु चौदह वर्ष बाद लौटकर आए हैं, अब इन चरणों को इतना कसकर पकड़ लूँ कि फिर कहीं जाने न पावें। भक्त के हृदय की यही भावना है तथा 'गहे' शब्द में भी यही अर्थ समाहित है। इस सन्दर्भ में एक बड़ी प्रसिद्ध गाथा आती है। कहा जाता है कि एक बहुत ही बड़े भावपूर्ण चित्रकार ने भगवान् का एक ऐसा चैतन्य चित्र बनाया कि सचमुच उस चित्र में चेतना का संचार हो गया और भगवान् बोलने लगे। चित्रकार ने चित्र तो सुन्दर बनाया था किन्तु उसमें चरण नहीं बनाए थे। भगवान् ने चित्रकार को उलाहना दिया कि तुमने मेरे सारे अंग-प्रत्यंग इतने सुन्दर बनाए पर मेरे चरण नहीं बनाए, भूल गये क्या? चित्रकार ने कहा कि महाराज! मुझे यही डर लगता है कि चित्र में चरण बनते ही आप कहीं चले न जाएँ, इसलिए चरण ही नहीं बना रहा हूँ। इसी प्रकार श्रीभरत भी इस समय प्रभु के चरणों को कस कर पकड़ लेते हैं और उसके पश्चात् भगवान् श्रीराम बलपूर्वक श्रीभरत को उठाकर हृदय से लगा लेते हैं–

परे भूमि नहि उठत उठाए।
बर करि कृपा सिंधु उर लाए॥७/४/७

प्रभु का अभिप्राय था नहीं-नहीं भरत! तुम्हारे हाथ द्वारा पकड़ने की आवश्यकता नहीं है। अरे! तुम्हारे प्रेम से मैं इतना बन्दी हो गया हूँ कि अगर मैं चाहूँ तो भी तुम्हें छोड़ करके कहीं जाने में मैं सक्षम नहीं हूँ, ऐसी सामर्थ्य मुझमें नहीं है। और साथ ही प्रभु तथा श्रीभरत दोनों की आँखों में आँसू आ गए। इस समय चित्रकूट वाली स्थिति नहीं है। यहाँ पर तो श्रीभरत ने अपने भरतत्व को बचा रखा है, श्रीराम ने अपने रामत्व को बचा रखा है। मन में रस की अनुभूति हो रही है। गोस्वामीजी उस स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं–

स्यामल गात रोम भए ठाढ़े।
नव राजीव नयन जल बाढ़े॥७/४/८
राजीव लोचन स्रवत जल तन ललित पुलकावलि बनीं।
अति प्रेम हृदयँ लगाइ अनुजहिं मिले प्रभु त्रिभुअन धनीं॥

पूरन प्रेम तो नहीं पर अति प्रेम तो है ही। वहाँ पर 'परम' और उसके साथ-साथ 'पूरन' शब्द जोड़ा गया–

परम प्रेम पूरन दोउ भाई।२/२४०/२

और यहाँ पर केवल–

'अति प्रेम' हृदयँ लगाइ अनुजहि मिले प्रभु त्रिभुवन धनीं। पूछा गया दृश्य कैसा लग रहा है? बोले–

प्रभु मिलत अनुजहिं सोह मो पहि जान नहिं उपमा कही।
जनु प्रेम और सिंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही॥

ऐसा लग रहा है जैसे प्रेम और शृंगार दोनों साकार रूप धारण कर मिल रहे हों। प्रेम मानो श्रीभरत हैं और मूर्तिमान् शृंगार मानो प्रभु हैं। और इस दिव्य मिलन में–

बूझत कृपानिधि कुसल भरतहिं बचन बेगि न आवहीं।

प्रभु भरत से पूछते हैं, भरत! तुम कुशलपूर्वक तो हो। और भरत का गला ऐसा रुँधा हुआ है कि–**'बचन बेगि न आवहीं'** श्रीभरत के मुख से शब्द नहीं निकल पा रहा है। कभी-कभी मिष्ठान्न देखकर के व्यक्ति के मुँह में पानी आ जाता है। इसी प्रकार कथा में यदि वर्णन किया जाय तो यदि सुनने वाला सचमुच रसिक है तो उसके मन में जो बात आनी चाहिए वही पार्वतीजी के मन में आ गई। पार्वतीजी ने भगवान् शंकर से कहा–महाराज! जरा यह भी तो बताइए कि जब श्रीभरत तथा श्रीराम परस्पर मिले तो दोनों को कितना सुख मिला? उस समय भगवान् शंकर को एक घटना की स्मृति हो आई।

जिस समय लंका से लौटकर श्रीहनुमान्जी आए और उन्होंने प्रभु के चरणों में प्रणाम किया उस प्रसंग में वक्ता भी शंकरजी थे। और जब श्रीभरत का भगवान् श्रीराम से मिलन हुआ तो भी शंकरजी ही वक्ता हैं पर दोनों में एक अन्तर है। हनुमान्जी के प्रसंग में कहते-कहते शंकरजी चुप हो गये और श्रीभरत के प्रसंग में चुप नहीं हुए। दोनों प्रसंगों में पार्थक्य क्यों है? इस पर जरा विचार करें।

जिस समय रावण ने अंगद से कहा कि तुम्हारी सेना में केवल एक ही वीर है जिसने नगर को जला दिया और कोई वीर है ही नहीं। उस समय अंगद ने रावण से कहा कि–

सत्य नगर कपि जारेउ बिनु प्रभु आयसु पाइ।
फिरि न गयउ सुग्रीव पहिं तेहिं भय रहा लुकाइ॥६/२३/०

रावण! क्या बन्दर ने सचमुच नगर जला दिया? और इसके साथ-साथ एक वाक्य जोड़ दिया—**'बिनु प्रभु आयसु पाइ। फिरि न गयउ सुग्रीव पहिं तेहिं भय रहा लुकाइ॥'** ओ हो! वह बन्दर तो यहाँ से लौट कर गया ही नहीं। हम लोगों को आश्चर्य हो रहा था कि वह लौटा क्यों नहीं, पर अब तुम्हारे मुँह से कारण पता चला कि उसने लंका को जला दिया। प्रभु ने तो लंका जलाने के लिये कहा नहीं था। उसने बिना आज्ञा के लंका जला दी; इसीलिए वह लौट करके नहीं गया। लगता है कहीं छिप गया होगा। पढ़ करके लगता है कि वह तो अंगद सरासर झूठ बोल रहे हैं। पर सत्य तो यह है कि इस शब्द के अन्तरङ्ग अर्थ पर यदि आप दृष्टि डालें तो प्रतीत होगा कि अंगद का शब्द स्थूल अर्थों में सत्य न होते हुए भी भाव तथा विचार की भूमि में बिल्कुल सत्य है। अंगद के शब्द पर आप जरा दृष्टि डालें। उन्होंने पहला वाक्य कहा—**'सत्य नगर कपि जारेउ।'** क्या बन्दर ने तुम्हारे नगर को जला दिया? अंगद का अभिप्राय है कि अगर बन्दर ने जला दिया तो नगर नहीं होगा, कोई झोपड़ी होगी और लंका अगर नगर है तो उसको जलाने वाला बन्दर नहीं होगा। ये दोनों बातें तो परस्पर विरोधी हैं। इसलिए आगे चल करके अंगदजी ने स्पष्ट भी कह दिया कि—

'कस रे सठ हनुमान् कपि'—अरे दुष्ट! एक ओर तो यह कहता जा रहा है कि लंका जला दी और फिर भी उन्हें बन्दर कह रहा है। हनुमान्जी का नाम नहीं ले रहा है अपितु कह यही रहा है कि—

है कपि एक महा बलसीला।

एक बन्दर बड़ा बलवान् है! अंगद का व्यंग्य यह था कि तुम कितने बड़े मूर्ख हो? यद्यपि तुम समझ तो यह बैठे हो कि तुम सब जानते हो, पर सत्य तो यह है कि जिसको लंका के प्रत्येक नागरिक ने पहचान लिया, उसको तुम अब भी नहीं पहचान पा रहे हो, तुम्हारा दुर्भाग्य यही है। वर्णन आता है कि श्रीहनुमान्जी लंका जला रहे थे उस समय लंका का प्रत्येक राक्षस कहने लगा कि यह तो बन्दर हो ही नहीं सकता—

हम जो कहा यह कपि नहिं होई।
बानर रूप धरे सुर कोई॥५/२५/४

अंगद ने कहा कि सारे नागरिक तो जान गये लेकिन तू ही एकमात्र

महापण्डित होकर भी रह गया। तुझे अभी तक यह पता नहीं चला कि नगर जलाने वाला भला बन्दर कैसे होगा? और 'बिनु प्रभु आयसु पाइ' तो बिल्कुल ठीक है। क्योंकि हनुमान्जी को प्रभु ने आज्ञा नहीं दी थी लंका जलाने की।

आगे चलकर प्रभु श्रीराम ने हनुमान्जी से पूछा—हनुमान्! तुमने लंका कैसे जलाई? तो हनुमान्जी के सामने यह प्रश्न था कि यह प्रशंसा हो रही है या जवाब-तलब किया जा रहा है? नगर जला दिया यह तो प्रशंसा की बात है, पर यदि यह पूछ रहे हैं कि मेरी आज्ञा के बिना तुमने किसकी आज्ञा से नगर जलाया, यह विचारणीय प्रश्न है। इसलिए उस दृश्य का वर्णन करते हुए गोस्वामीजी ने लिखा है कि जब प्रभु ने हनुमान्जी की प्रशंसा की तो हनुमान्जी ने बड़े ध्यान से प्रभु के मुख की ओर देखा—

सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख।

और सचमुच हनुमान्जी को न तो प्रभु की आज्ञा मिली थी और न ही वे लंका को जलाने का संकल्प लेकर गये थे। इसीलिए जब लौट करके आए और प्रभु ने प्रश्न पूछ दिया कि—

कहु कपि रावण पालित लंका।
केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका॥५/३२/५

यद्यपि प्रभु ने पूछा तो था केवल लंका जलाने के विषय में, पर हनुमान्जी ने बड़े विस्तार से सुनाते हुए कहा कि महाराज!—

नाघि सिंधु हाटक पुर जारा।
निसिचर गन बिधि बिपिन उजारा॥५/२२/८

समुद्र लाँघा गया, लंका जलाई गई, राक्षस मारे गये और बाग उजाड़ा गया। प्रभु ने जब सुना तो हनुमान्जी की ओर देखकर मानो जानना चाहा कि लगता है या तो वक्ता से घटनाओं के वर्णन में क्रम भंग हुआ है और या फिर तुमसे भूल हुई। क्योंकि इसके पहले जाम्बवान्जी ने हनुमान्जी के दिव्य चरित्र की कथा प्रभु को सुनाई थी—

पवन तनय के चरित सुहाए।
जामवंत रघुपतिहि सुनाए॥५/२९/६

जाम्बवान्जी ने यह बताया था कि समुद्र लाँघने के बाद हनुमान्जी वाटिका में गए, वहाँ पर वाटिका को उजाड़ा, फिर राक्षसों को मारा और

अन्त में लंका को जलाया। किन्तु हनुमान्‌जी ने जब सुनाया तो कहा कि समुद्र लाँघा गया, लंका जलाई गयी तथा बाद में राक्षस मारे गए। यद्यपि लगता तो यही है कि या तो कहने वाले से भूल हो रही है या स्वयं काम करने वाले से भूल हुई है। पर इस वर्णन के पीछे श्रीहनुमान्‌जी का भाव बड़ा मीठा था। उन्होंने कहा—महाराज! जो बाहर से देखेंगे उनको तो लगेगा कि बाग उजाड़ने के बाद लंका जलाई गई, पर मैं जानता हूँ कि बाग बाद में उजड़ा, राक्षस बाद में मरे; किन्तु लंका पहले जल गई। क्योंकि आपने मुझे लंका जलाने की आज्ञा तो दी नहीं थी, कोई योजना तो थी नहीं। और मैं तो अशोक वृक्ष पर बैठा हुआ केवल यह विचार कर रहा था कि मैं क्या करूँ? **'करइ बिचार करौं का भाई।'** पर ठीक उसी समय मेरे प्रश्न का उत्तर आपने बड़े विचित्र ढंग से दे दिया। वस्तुतः आपने मेरे प्रश्न का उत्तर स्वयं न देकर दूसरों से दिलवाया। मैं स्वयं अपने आपसे पूछ रहा था और आप उत्तर दिलवा रहे थे। और वह उत्तर हर प्रकार से अनोखा था।

श्रीहनुमान्‌जी ने कहा प्रभु! जिस समय मैं—**'करइ बिचार करौं का भाई!'**—में डूबा हुआ था उसी समय रावण आ गया। रावण को देखकर मुझे लगा कि यह कैसे आ गया क्योंकि यह तो विरोधी है। पर लगता है वह अपने मन से नहीं आया था, अपितु आपने मेरे प्रश्न का उत्तर देने के लिये ही रावण को भेजा था। क्योंकि रावण मेरे सामने ही अपनी रानियों को सुना करके श्रीकिशोरीजी से कहने लगा कि यदि तुम एक बार मेरी ओर दृष्टि डाल दो तो इन समस्त रानियों को तुम्हारी दासी बना दूँगा, यह मेरी प्रतिज्ञा है—

तव अनुचरीं करउँ पन मोरा।
एक बार बिलोकु मम ओरा॥ ५/८/३

किन्तु उस समय जब माँ ने दृष्टि उठा कर भी रावण की ओर नहीं देखा तो मेरे मन में यह प्रश्न आया कि माँ की दृष्टि पाने का उपाय क्या है? क्योंकि माँ तो मुझे पहचानती नहीं, वे भला मेरी ओर देखेंगी कैसे? उन्होंने जब रावण की ओर नहीं देखा, संसार के इतने बड़े ऐश्वर्यशाली के समक्ष जब नहीं देखा, तो मेरे सामने स्वाभाविक यह प्रश्न आया कि फिर माँ मेरी ओर कैसे देखेंगी। किन्तु उत्तर मुझे तत्काल मिल गया। और

वह उत्तर यह था कि यद्यपि माँ ने रावण की ओर तो नहीं देखा पर—**'तृन धरि'**—एक तिनके को किशोरीजी ने हाथ में उठा लिया। बस! मैं समझ गया कि 'तिनका' बने बिना माँ की कृपादृष्टि प्राप्त नहीं होती। कृपादृष्टि यदि पाना है तो तृण बन करके ही प्राप्त होगी, बड़े बन करके नहीं मिलेगी।

श्रीहनुमान्‌जी ने कहा, प्रभु! उस दृश्य को देख करके मेरे मन में थोड़ा उलाहने का भाव यह आया कि प्रभु ने लंका में जनकनन्दिनी सीताजी को अकेले भेज दिया, उनकी रक्षा के लिये कोई नहीं भेजा। अपितु विचित्र दृश्य यह है कि चारों ओर से राक्षसियाँ घेरे हुए उन्हें डराने की चेष्टा कर रही हैं। मुझे लगा यह क्या विडम्बना है, प्रभु की यह कैसी लीला है? ऐसा प्रभु ने क्यों किया है? किन्तु प्रभु! इस प्रश्न का उत्तर भी आपने मुझे उसी प्रसंग में दे दिया।

जिस समय श्रीकिशोरीजी ने रावण को फटकारा और क्रोध में आकर रावण चन्द्रहास तलवार निकाल कर उन्हें मारने दौड़ा, उस समय मेरे समक्ष बड़ा भारी संकट आ गया। रावण जब मेरे सामने ही तलवार लेकर आगे बढ़ रहा था तब मेरे मन में यह इच्छा होनी स्वाभाविक ही थी कि मैं कूद पड़ूँ और इस दुष्ट राक्षस से तलवार छीनकर उसी से इसका सिर काट लूँ। पर मुझे लगा कि आपने तो आज्ञा नहीं दी है, अब मैं क्या करूँ? किन्तु प्रभु! जब मैं इस द्विविधा में था उसी समय मन्दोदरी ने आगे बढ़कर रावण का हाथ पकड़ लिया। बस! मैं समझ गया कि आपने मुझे उत्तर दिया है कि हनुमान्‌! बचाने वालों को तो मैंने लंका में ही रख छोड़ा है। उसके लिये तुम्हारी या अन्य किसी की आवश्यकता नहीं है। श्रीहनुमान्‌जी ने कहा, प्रभु! स्वाभाविक तो यही है कि मन्दोदरी यह चाहे कि श्रीसीताजी की मृत्यु हो जाए, क्योंकि रावण तो मन्दोदरी को सीताजी की दासी बनाने के लिये तैयार है, पर मन्दोदरी स्वयं रोक देती हैं। इससे बढ़कर के उत्तर भला क्या होगा? उन्होंने कहा, प्रभु! मैं यदि कूद पड़ता तो मुझे भ्रम हो जाता कि मैं न होता तो आज श्रीसीताजी को कौन बचाता? पर आपने दिखा दिया कि मैंने तो रावण के घर में ही ऐसा व्यक्ति पहले से भेज दिया है। प्रभु! इसके बाद भी जीव अगर अभिमान करे कि यह कार्य मैं करता हूँ तो इससे बढ़कर धृष्टता और कोई नहीं होगी।

श्रीहनुमान्‌जी ने कहा, प्रभु! जब रावण माँ को धमकी देकर चला गया तो बाद में राक्षसियाँ उन्हें डराने लगीं–

भवन गयउ दसकंधर इहाँ पिसाचिनि बृन्द।
सीतहि त्रास दिखावहिं धरहि रूप बहु मन्द॥५/१०/०

फिर मेरे मन को चिन्ता हुई कि इन राक्षसियों से सीताजी को मुक्ति कैसे मिले? लेकिन अचानक उन्हीं राक्षसियों में एक राक्षसी बोल उठी। सचमुच कैसी अद्भुत लीला है प्रभु आपकी। जिन राक्षसियों को रावण ने चुन-चुन करके श्रीसीताजी को डराने के लिये रख छोड़ा था, श्रीसीताजी को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये रख छोड़ा था, उन्हीं में-से एक अन्य राक्षसियों से कहने लगी कि मैंने आज एक सपना देखा है वह मैं तुम लोगों को बताना चाहती हूँ। मैंने देखा है कि लंका में एक बन्दर आया हुआ है। यह शब्द सुनते ही श्रीहनुमान्‌जी ने कहा, प्रभु! मेरा भ्रम आज दूर हो गया क्योंकि मुझे भ्रम हो गया था कि–

लंका निसिचर निकर निवासा।
इहाँ कहाँ सज्जन कर वासा॥५/५/१

लंका तो राक्षसों की नगरी है, यहाँ पर सज्जन का वास कैसे, कहाँ होगा? जब विभीषणजी मिले तो भी मुझे विश्वास नहीं हो रहा था। हाँ! यह लगा था कि चलो एक सन्त निकल आया, लेकिन जब त्रिजटा भी निकल आई तो मुझे लगा कि यहाँ पुरुषों में भी सन्त हैं तथा स्त्रियों में भी सन्त हैं। यहाँ सन्तों की कोई कमी नहीं है। और प्रभु! मानो आपने यह सत्य सिद्ध कर दिया कि–

सबहि सुलभ सब दिन सब देसा॥१/१/१२

सन्त प्रत्येक देश में होते हैं, प्रत्येक काल में होते हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिये सुलभ होते हैं। इस पंक्ति का इससे बढ़कर प्रमाण क्या होगा कि त्रिजटा भी उन्हीं राक्षसियों में से निकल आई। पर प्रभु! अगली बात जब त्रिजटा ने कही तो मैं चकित हो गया क्योंकि त्रिजटा ने कहा कि बन्दर आया हुआ है और वह लंका जलावेगा। उसका वाक्य सुनकर तो मैं बड़े चक्कर में पड़ गया। मुझे लगा कि लंका जलाने की आज्ञा तो मुझे प्रभु ने दी नहीं है और त्रिजटा कह रही है कि बन्दर लंका जलावेगा। और बाद में जब लंका जल गयी तो मैं समझ गया कि लंका

को तो आपने अपने मन में पहले ही जला दिया था और जलाने के बाद त्रिजटा को स्वप्न में बता भी दिया था। इसलिए महाराज! बाग उजाड़ना तो बाद में हुआ लंका तो वस्तुतः तभी जल गयी जब त्रिजटा ने स्वप्न सुनाया था। बाहर घटना कब हुई वह तो दूसरों को देखने की बात है। पर यह घटना वस्तुतः आपके संकल्प में तो पहले ही पूरी हो गयी थी। यहाँ पर भी वही गीता वाला क्रम दिखाई देता है। विराट् रूप में भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि को मरा हुआ देखकर अर्जुन जब पूछता है, महाराज! इन्हें मारना है या ये मर चुके हैं, तो भगवान् यही कहते हैं कि–

मयैवैते निहिता पूर्वमेव।

मैंने तो इन्हें पहले ही मार दिया है, पर–

निमित्तमात्रं भव स्वयसाचिन्।

केवल व्यवहार में निमित्त बन करके तुम इस घटना को पूरा करोगे। तुम्हारे अन्तःकरण में कर्तृत्व का अभिमान नहीं आना चाहिए। इसी प्रकार हनुमान्‌जी ने प्रभु को सुनाते समय यह कहा–

नाघि सिंधु हाटक पुर जारा।
निसिचर गन बिधि बिपिन उजारा॥५/३२/८

तो मानो उन्होंने त्रिजटा के स्वप्न को जोड़ करके प्रभु को संकेत किया कि प्रभु भुलावा मत दीजिए। क्या मैं यह जानता था? क्योंकि आपने न तो मुझे फल खाने की आज्ञा दी थी, न बाग उजाड़ने की और न ही लंका जलाने का आदेश दिया था। उस समय हनुमान्‌जी ने सफाई देते हुए बहुत बढ़िया संकेत किया। उन्होंने कहा, प्रभु! जब मैंने श्रीकिशोरीजी का दर्शन किया, तो मुझे लगा कि श्रीकिशोरीजी आपसे अभिन्न हैं और सत्य भी यही है; क्योंकि–

गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।

ऐसी स्थिति में आज्ञा चाहे उनसे मिले अथवा आपसे मिले, वस्तुतः आज्ञा तो आप ही की मानी जाएगी और मुझे लगा भी यही। वैसे भी भूख की बात तो पिता से कहने में इतनी सुविधा नहीं है जितनी माँ से कहने में होती है। इसलिए मैंने माँ से पूछ लिया था कि क्या मैं ये फल खा लूँ? भगवान् राघवेन्द्र पूछ सकते थे कि फिर तुमने बाग कैसे उजाड़ दिया? तो हनुमान्‌जी ने कहा कि प्रभु! मैंने बाग थोड़े ही उजाड़ा। मैंने

तो माँ से फल खाने की आज्ञा पाई थी और बाग उजड़ना तो रावण की वाटिका के फल खाने का फल था। हनुमान्‌जी का अभिप्राय था कि महाराज! माँ की कृपा से एक बार जब जीव के हृदय की भूख शान्त हो जाए, भोजन से शक्ति आ जाय और शक्ति आने के बाद भी अगर रावण का बाग न उजड़ा, मोह की वाटिका न उजड़ी तो फल खाने से शक्ति ही क्या मिली? वस्तुतः फल की तो विशेषता ही यही है कि उसको पा लेने के पश्चात् ऐसा लगने लगा कि अब किसी से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है।

भगवान् श्रीराघवेन्द्र ने जानना चाहा कि लंका कैसे जलाई? हनुमान्‌जी ने कहा कि महाराज! आप तो जानते ही हैं कि मैं तो रावण की सभा में स्वयं गया भी नहीं अपितु ले जाया गया क्योंकि मेघनाद नागपाश में बाँध करके मुझे ले गया था। इस कार्य के पीछे हनुमान्‌जी का उद्देश्य यही था कि प्रभु! जहाँ तक आपकी अथवा माँ की आज्ञा थी, वहाँ तक तो मैं खुला हुआ था, अब आगे मैं बँधा हुआ हूँ। अब जो कराना हो वह आप कराइएगा, मैं कुछ नहीं जानता। लंका जलनी है कि नहीं जलनी है वह आपका कार्य है। बँधा हुआ व्यक्ति तो स्वतन्त्र है नहीं इसलिए मैं परतन्त्र हो करके गया। जब रावण ने यह कहा कि इस बन्दर की पूँछ में कपड़ा लपेट करके, घी-तेल डालकर आग लगा दो, तो मैं गद्‌गद हो गया कि वाह रे प्रभु! सचमुच लंका जलाने वाली योजना आपकी ही है। पर आपने चुनाव भी कैसा विलक्षण किया। अब भला बताइए कि लंका जलाने के लिये मैं कहाँ से घी-तेल-कपड़ा ले आता, कहाँ से आग ले आता, पर सारा प्रबन्ध आपने उस रावण से ही करा दिया जिसका नगर जलना था, इससे बढ़ करके आपके प्रताप की कोई विलक्षणता हो ही नहीं सकती।

जब अंगद यह कहते हैं कि—**'फिरि न गयउ'**—तो यहाँ उनका अभिप्राय यही है कि हनुमान्‌जी कर्तृत्व शून्य होकर गये हैं, 'मैं' लेकर प्रभु के पास नहीं गये हैं। बहुधा जब हम कोई काम करके लौटते हैं तो कहते हैं कि मैंने यह किया है, पर अंगद के द्वारा यह कहना कि—'वह बन्दर तो लौट करके गया ही नहीं' अथवा 'वह तो बड़ा छोटा-सा बन्दर था' इसका अभिप्राय यह है कि श्रीहनुमान्‌जी जब प्रभु के सामने गये तो छोटे-से-छोटे बन करके गए। अपने को कर्तृत्त्व से शून्य करके, 'मैं' से शून्य होकर

गए, इसलिए उनका जाना वैसा नहीं है जैसा कि लोकदृष्टि में माना जाता है। वस्तुतः अंगद के द्वारा चतुराई से की जाने वाली यह हनुमान्‌जी की स्तुति थी।

हनुमान्‌जी सचमुच इतने कर्तृत्त्व शून्य हैं कि वे आए भी तो बिल्कुल पीछे, और यात्रा का कोई वर्णन ही नहीं सुना रहे हैं। वैसे तो प्रभु अन्तर्यामी हैं, सब जानते हैं पर लीला में सोचने लगे किसने कार्य किया होगा? और श्रीहनुमान्‌जी तो ऐसे छिपे हुए थे कि जैसे कोई बहुत बड़ी भूल करके आया हो जिससे कि सामने न आना चाहे। और तब श्रीजाम्बवान्‌जी ने कहा—महाराज! ये समस्त कार्य तो हनुमान्‌जी ने किए हैं—

नाथ काहु कीन्हेउ हनुमान्‌।
राखे सकल कपिन्ह के प्राना॥५/२८/५

और तब भगवान् राम ने उनको हृदय से लगाया। उस समय जब प्रभु ने श्रीहनुमान्‌जी की प्रशंसा की तो वर्णन आया कि—

सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरष हनुमंत।
चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत॥५/३४/०

हनुमान्‌जी प्रभु के चरणों में गिर पड़े और हनुमान्‌जी के मुख से वाक्य निकला—प्रभु! रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए! उसके बाद जब भगवान् राम श्रीहनुमान्‌जी को उठाने लगे तो एक अद्‌भुत दृश्य यह उपस्थिति हो गया कि—

प्रभु कर पंकज कपि कें सीसा।५/३२/२

श्रीहनुमान्‌जी का सिर प्रभु के चरणों पर है और भगवान् श्रीराघवेन्द्र उनका सिर पकड़ करके उन्हें उठाना चाहते हैं। तब श्रीहनुमान्‌जी को लगा कि प्रभु! अपनी कृपा के द्वारा मुझे उठा रहे हैं। क्योंकि जीव तो गिरता ही है, लेकिन प्रभु अपनी कृपा के द्वारा ही उसे उठाते हैं। प्रभु का भाव यह था कि हनुमान्! जब मैंने तुम्हारे सामने अपने दोनों हाथ जोड़ करके तुम्हारा सिर उठाया तो मानो मैं स्वयं को ऋणी के रूप में स्वीकार कर रहा था कि भाई! मैं तो तुमसे ऋण लेता ही रहा हूँ और अब भी जो ऋण देना हो दे दो। भक्त और भगवान् के भाव का जब ऐसा अद्‌भुत दृश्य हुआ तो कथा बन्द हो गई। यह अन्तर क्यों पड़ गया? अयोध्या के मिलन में शंकरजी की कथा बन्द नहीं हुई पर हनुमान्‌जी के प्रसंग

में कथा बन्द हो गई! और उसका सूत्र यही है कि भरतजी के प्रसंग में शंकरजी को लगा कि प्रभु श्रीभरत से मिल रहे हैं, पर हनुमान्‌जी के प्रसंग में अन्तर यह है कि जो कथावाचक भगवान् शंकर हैं वे ही हनुमान्‌जी हैं। इसलिए शंकरजी कथा कहते समय यह अनुभव नहीं कर रहे हैं कि प्रभु हनुमान्‌जी को उठा रहे हैं अपितु उन्हें तो ऐसा लगता है, मानो मैं ही प्रभु के चरणों में सिर रखे हुए हूँ तथा प्रभु मुझे ही उठा रहे हैं और जब उस समय रस लेने में बिल्कुल डूब गये तो फिर कथा आगे कैसे बढ़े? इसलिए गोस्वामीजी का शब्द यही था कि–

प्रभु कर पंकज कपि कें सीसा।
सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा॥५/३२/२

शंकरजी मग्न हो गए। इसका अभिप्राय यह है कि उन्हें यदि यही अनुभव हो रहा होता कि हनुमान्‌जी मिल रहे हैं तो मौन न होते, वाणी बन्द नहीं होती, डूबते नहीं। तब तो वे बुद्धि से कहते।

अयोध्या वाले मिलन में भरतजी और प्रभु के मिलन का वर्णन तो शिवजी बहुत मधुरता से करते हैं पर कथा बन्द नहीं हुई; किन्तु यहाँ पर तो थोड़ी देर कथा बन्द रही–

प्रभु कर पंकज कपि कें सीसा।
सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा॥५/३२/२

गोस्वामीजी कहते हैं कि थोड़ी देर के बाद में–

सावधान मन करि पुनि संकर।
लागे कहन कथा अति सुन्दर॥५/३२/३

भगवान् शंकर अपने उस रस से निकल कर बाहर विवेक में आते हैं और फिर आगे की कथा पार्वतीजी को सुनाते हैं।

जब श्रीभरत तथा श्रीराम का मिलन हुआ तो पार्वतीजी को लगा कि शंकरजी के द्वारा किए जा रहे इस वर्णन में तो बड़ा ही आनन्द आ रहा है और चलिए कथा भी बन्द नहीं हो रही है। शंकरजी ने बड़े भाव पूर्ण शब्दों में उस दृश्य का वर्णन करते हुए कहा–पार्वती–

प्रभु मिलत अनुजहि सोह मो पहिं जान नहिं उपमा कही।
जानु प्रेम अरु शृंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही॥७/४/११
बूझत कृपानिधि कुसल भरतहि वचन बेगि न आवई।

पार्वतीजी ने पूछ दिया, महाराज! यह तो बताइए कि श्रीभरतजी को कैसा सुख मिला? उन्होंने कहा, पार्वती! मुझसे क्यों पूछ रही हो? सत्य तो यह है कि–

सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई।

जो पा रहा है उससे पूछो कि कैसा सुख मिल रहा है। उनका अभिप्राय यह है कि मिल रहे हैं भरत से, आनन्द आ रहा है भरत को। मैं तो देखकर तुमको केवल सुनाए दे रहा हूँ; पर उसकी सच्ची अनुभूति तो भरत को ही हो रही है।

इसमें मूल सूत्र यही है कि अगर हम देश, व्यक्ति परिच्छिन्न केवल भूतकालिक रस को लें तो उसमें भी आनन्द की अनुभूति तो आती ही है पर वह रस जो स्वयं को प्राप्त होने में आता है उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। अर्थात् भगवान् के चरित्र को यदि हम देश, काल और व्यक्तित्व की दूरी के आधार पर केवल सुनेंगे तो पूर्ण रस से दूर रहेंगे। इतिहास और कथा का अन्तर यही है कि इतिहास केवल भूतकाल की घटनाएँ हैं तथा कथा का अभिप्राय है कि जो भूतकाल को वर्तमान में ऐसा मिला दे कि आपको स्वयं ऐसा अनुभव होने लगे कि हम इस समय उसी युग में पहुँच गये हैं। आप भक्त से तद्‌रूपता का अनुभव करें तथा स्वयं उस आनन्द की अनुभूति करें। मानो कथा का अभिप्राय है कि जो इतिहास के भूतकाल को वर्तमान में लाकर हमारे जीवन से मिला दे, एकाकार कर दे।

इस सन्दर्भ में एक उपाख्यान का वर्णन आपके सामने किया जा चुका है। कहा जाता है कि एक भक्त विवाह का उत्सव मनाने के लिये मण्डप बना रहा था। किसीने पूछ दिया कि विवाह तो त्रेतायुग में हुआ था, अब मण्डप क्यों बना रहे हो? भक्त ने कहा–उस विवाह मण्डप में एक कमी रह गयी थी उसे पूरा कर रहा हूँ। सामने वाले ने पूछा–क्या कमी रह गयी थी? वह बोला, भई! उस विवाह मण्डप में दशरथजी थे, गुरु वसिष्ठ थे, जनक थे, सतानन्द थे, सब थे पर मैं नहीं था और इस मण्डप की विशेषता यह है कि इसमें मैं भी रहूँगा। मेरे लिये तो आनन्द तभी आवेगा जब हम स्वयं मण्डप में उपस्थिति रहकर विवाह रस का अनुभव करें। बस मूल सूत्र यही है कि आज भी वह अनुभूति हमारे जीवन में कथा के द्वारा सम्भव है।

वस्तुतः **'रामकथा मन्दाकिनी चित्रकूट चित चारु'** का तात्पर्य तो स्पष्ट ही कथा है। अगर आप चित्रकूट की यात्रा करें भी तो साल में दो-चार बार ही कर सकते हैं, पर कथा के द्वारा आप चाहे जब चित्रकूट में पहुँच जाएँ। चाहे जब मन्दाकिनी में स्नान कर लें। चाहे जब आप कामतानाथजी की परिक्रमा कर लें। चाहे जब भगवान् राम और सीता से मिल लें। अगर इतनी सरलता आप चाहते हैं तो कथा अवश्य सुन लें। इसका सीधा-सा अभिप्राय है कि अपने अन्तःकरण को ही आप चित्रकूट बना लीजिए, उसमें प्रेम का वन लगाइए और इसी प्रेम के वन में श्रीसीता और भगवान् राम का विहार होगा तथा हम स्वयं उस विहार के आनन्द को अनुभव करेंगे।

□

॥श्रीरामः शरणं मम॥

द्वितीय प्रवचन

गोस्वामीजी ने श्रीरामचरितमानस के प्रारम्भ में जैसे भगवान् श्रीराम के नाम की महिमा का वर्णन किया, राम-नाम की वन्दना की, श्रीराम के रूप तथा उनके धाम की वन्दना की, इसी प्रकार वे भगवान् श्रीराघवेन्द्र की कथा तथा चरित्र की महिमा बताते हुए उनके प्रति भी अपनी भक्ति प्रकट करते हैं। इस बार जो प्रसंग चुना गया है उसमें गोस्वामीजी कथा के अगणित रूपों का वर्णन किया और इस दोहे में गोस्वामीजी ने कथा को मन्दाकिनी के रूप में प्रस्तुत करते हैं। और वे यह कहते हैं कि चित्रकूट तो प्रभु की दिव्य लीलाभूमि है।

गोस्वामीजी के मन में तो भगवान् के जितने भी धाम, लीलाभूमि हैं, उन सबके प्रति महत्त्व बुद्धि है, परन्तु प्रभु के समस्त धामों में से भी उन्हें जो धाम सबसे अधिक प्रिय है वह है चित्रकूट। यदि आप गोस्वामीजी के अन्य ग्रन्थों को पढ़ेंगे तो आप देखेंगे कि चित्रकूट के प्रति उनके मन में कितनी अविचल आस्था है। विनय-पत्रिका गोस्वामीजी का सबसे अन्तिम तथा सबसे अधिक गम्भीर ग्रन्थ है। यद्यपि साधारण व्यक्ति को तो उसमें उतना रस नहीं मिल पाता जितना रामचरितमानस में। उस ग्रन्थ में विलक्षणता यह है कि प्रभु के धाम के रूप में अयोध्या की वन्दना तो नहीं की गई, पर चित्रकूट की वन्दना करते हैं। दो पदों में जिस विलक्षण पद्धति से उन्होंने चित्रकूट की महिमा का गायन किया, उसे पढ़ करके ऐसा लगता है कि भले ही वे शरीर से कहीं और क्यों न रहते हों, पर उनके मन में चित्रकूट जाने की व्यग्रता बनी रहती थी। वहाँ पर प्रथम पद में गोस्वामीजी चित्त को श्रोता बनाते हैं। चित्त तथा चित्रकूट को एकाकार करने का

संकेत करते हुए उन्होंने उस पद में कहा कि–

अब चित चेति चित्रकूटहिं चलु। –विनय पत्रिका-२४

अरे चित्त! अब तू सावधान हो जा और चित्रकूट की ओर चल–

कोपित कलि, लोपित मंगल मगु बिलसत बढ़त मोह माया मलु॥१॥
भूमि बिलोकु राम पद अंकित, बन बिलोकु रघुबर-बिहार थलु।
सैल-सृंग भवभंग हेतु लखु, दलन कपट-पाखण्ड दंभ-दलु॥२॥
जहँ जनमे जग-जनक जगतपति, बिधि-हरि-हर परिहरि प्रपंच छलु।
सकृत प्रबेस करत जेहि आश्रम, बिगत-बिषाद भए पारथ नलु॥३॥
न करु बिलंब बिचारु, चारुमति, बरस पाछिले सम अगिले पलु।
मंत्र सो जाइ जपहि, जो जपि भे, अजर अमर हर अचइ हलाहलु॥४॥
राम नाम जप जाग करत नित, मज्जत पय पावन पीवत जलु।
करिहैं राम भावती मनकौ, सुख साधन अनयास महाफलु॥५॥

और अन्त में जब उन्होंने कामतानाथजी का वर्णन किया तो उसमें एक विशेष वाक्य जोड़ते हुए वे कहते हैं–

कामदमनि कामता, कलपतरु सो जुग जुग जागत जगती तलु।

चित्रकूट में कामताजी की जो महिमा है वैसे तो वह चारों युगों में एकरस है तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिये वन्दनीय है लेकिन–

तुलसी तोहि बिसेषि बूझिए, एक प्रतीति-प्रीति एकै बलु॥६॥

–विनय पत्रिका-२४

तुलसीदास! तुम्हारे लिये तो चित्रकूट और कामदगिरि ही एकमात्र परम आश्रय हैं। अयोध्या के प्रति भी उनके मन में समादर है। और श्रीरामचरितमानस में अयोध्या की बड़ी भावपूर्ण वन्दना की गयी है, किन्तु विनयपत्रिका में उन्होंने अयोध्या के स्थान पर चित्रकूट की ही वन्दना की और इसके पीछे एक विशेष रहस्य विद्यमान है।

गोस्वामीजी की जो जीवनी हम लोगों के समक्ष है उसमें आपने पढ़ा होगा कि चित्रकूट की दिव्यभूमि में ही गोस्वामीजी को भगवान् राम का दर्शन मिला था। तो स्वाभाविक ही जहाँ उन्हें प्रभु की प्राप्ति हुई वहाँ के प्रति अमित आकर्षण रहा होगा, यह सहज ही है। इसलिए जब लोग मुझसे पूछते हैं कि तुलसीदासजी का जन्म कहाँ हुआ था तब मैं यही कहता हूँ कि मेरी दृष्टि में तो तुलसीदासजी का जन्म चित्रकूट में ही हुआ। वैसे

गोस्वामीजी ने राजापुर को अपनी जन्मभूमि के रूप में स्मरण नहीं किया। केवल जनश्रुतियों के आधार पर यह माना जाता है कि तुलसीदासजी की जन्मभूमि राजापुर है। किन्तु अगर विचार करके देखें तो जहाँ उनका वास्तविक जन्म हुआ, जहाँ से वे तुलसीदास बने, वह तो चित्रकूट ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसीदासजी ने जिस अनुभूति को बार-बार दोहराया, उसे भूल करके हम उन्हें उस जन्मस्थली में ढूँढ़ने क्यों जाएँ कि जहाँ के लोगों ने अपने काल में उनका अपमान किया हो। आज लोग भले ही उनको अपना बनाने के लिये व्यग्र हों, पर उस समय तो तुलसीदासजी को उनकी जन्मस्थली ने कोई सम्मान नहीं दिया था। और भई! गोस्वामीजी का पूर्णजन्म तो भगवान् की प्राप्ति है। तुलसी को तुलसीदास बनाने की भूमि तो चित्रकूट है। इसलिए स्वभावतः राजापुर का स्मरण तो नहीं करते किन्तु चित्रकूट का स्मरण करते समय वे विह्वल हो जाते हैं। एक बार तुलसीदासजी से किसी ने पूछा कि आप रहते तो बहुधा काशी में हैं पर बार-बार चित्रकूट क्यों जाया करते हैं? उसका उत्तर देते हुए गोस्वामीजी दोहावली रामायण में जो दोहा लिखते हैं; वह आपने पढ़ा ही होगा। ऐसी लोक मान्यता है कि साँप और नेवले में जब लड़ाई होती है तो जहरीला साँप नेवले को काट लेता है। पर नेवला उस विष को कैसे उतारता है? इस सन्दर्भ में ऐसी लोकोक्ति है कि जंगल में एक ऐसी जड़ी है जिसमें विष उतारने की शक्ति है तथा उसका ज्ञान नेवले को है। और जिस समय साँप नेवले को काटता है, नेवला तुरन्त वहाँ से जंगल की ओर भागता है, और उसी जड़ी को सूँघ करके अथवा खा करके जब वह नई शक्ति को लेकर के लौटता है तब उसे हराता है। तुलसीदासजी ने कहा कि ठीक इसी प्रकार से मैं तुलसीदास नेवला हूँ तथा संसार के सारे दुर्गुण साँप हैं। और हम दोनों का युद्ध चल रहा है। जब दुर्गुण का साँप मुझे काट लेता है और उसके विष चढ़ने का लक्षण दिखाई देने लगता है तब मैं उस विष को उतारने वाली जड़ी की खोज में जाता हूँ पर वह जड़ी कौन-सी है? इसका परिचय देते हुए 'दोहावली' रामायण में उन्होंने कहा कि–

भव भुजंग तुलसी नकुल डसत ग्यान हरि लेत।
चित्रकूट एक औषधी चितवत होत सचेत॥

चित्रकूट ही वह जड़ी है कि जहाँ जाते ही मैं सचेत हो जाता हूँ। और जब वहाँ से नई शक्ति लेकर के लौटता हूँ जब सांसारिक दुर्गुणों के जो सर्प हैं उनके विरुद्ध संघर्ष करके विजय प्राप्त करता हूँ। चित्रकूट के प्रति उनकी कैसी आस्था है वह इस दोहे में परिलक्षित होती है।

कुछ लोगों की दृष्टि में भगवान् राम चित्रकूट में केवल एक वर्ष रहे। और कुछ लोगों की मान्यता है कि वे वहाँ पर तेरह वर्ष रहे, पर अधिक से अधिक अवधि जो मानते हैं वे भी तेरह वर्ष की मानते हैं। एक बार किसी ने गोस्वामीजी से कहा कि चित्रकूट में तो बहुत थोड़े समय तक ही श्रीराम रहे थे, बाद में तो प्रभु चित्रकूट से चले गए, अब आप वहाँ क्या करने के लिये जाते हैं? तुलसीदासजी ने कहा—न! न! कौन कहता है कि चित्रकूट से श्रीराम चले गये थे? क्योंकि 'थे' तो इतिहास के श्रीराम हो सकते हैं। वस्तुतः भक्त के भगवान् श्रीराम तथा इतिहास के श्रीराम में अन्तर है। इतिहास के श्रीराम के काल में तो गणना है कि कितने हजार वर्ष रहे, कितने वर्ष कहाँ रहे, लेकिन भक्तों के श्रीराम के सम्बन्ध में वे विश्वास दिलाते हैं कि—

चित्रकूट महँ बसत प्रभु, नित सिय लखन समेत।

श्रीराम तो सर्वदा चित्रकूट में ही श्रीसीताजी तथा लक्ष्मण के साथ निवास करते हैं। पूछा गया महाराज! किन्तु हमें दिखाई तो नहीं देते। और तब वे कहते हैं कि अगर आप देखना चाहते हैं, तो चित्रकूट में जा करके एक प्रयोग और कीजिए और वह प्रयोग यह है कि—

चित्रकूट महँ बसत प्रभु, नित सिय लखन समेत।
राम नाम जप जाचकहिं, तुलसी अभिमत देत॥

भगवान् के मंगलमय राम नाम का आश्रय ले करके जो चित्रकूट में निवास करता है, उसे आज भी भगवान् श्रीराम के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होता है। यह गोस्वामीजी की स्वयं की अनुभूति है। मानो इन शब्दों में उनकी चित्रकूट के प्रति जो भावना है, वह परिलक्षित होती है। यद्यपि दोहावली, कवितावली, विनयपत्रिका तथा रामचरितमानस में सर्वत्र आपको चित्रकूट की महिमा अनेक रूपों में मिलेगी, किन्तु इसके साथ-साथ गोस्वामीजी एक अनोखा सूत्र भी हमें देते हैं और वही हमारे-आपके जीवन का सत्य है।

हमारी प्राचीन काल से मान्यता रही है कि ये जो हमारे शरीर की

रचना हुई है तथा ब्रह्माण्ड की जो रचना की गयी है, उन दोनों में पूरी तरह समानता है। इसीलिए विनय-पत्रिका में गोस्वामीजी ने मनुष्य के शरीर की तुलना भी बह्माण्ड से की है।

'वपुष ब्रह्माण्ड सुप्रवृत्ति लंका-दुर्ग, रचित मन दनुज-मय रूपधारी' इन शब्दों में उन्होंने शरीर की तुलना ब्रह्माण्ड से की। इसका सीधा-सा अभिप्राय है कि जो ब्रह्माण्ड में बाहर है वही व्यक्ति के भीतर शरीर में भी है। स्वर्ग-नरक, लोक-परलोक, ग्रह-नक्षत्र, ये जितने भी ब्रह्माण्ड में व्यक्ति को बाहर दिखाई देते हैं, उन्हीं का लघु प्रतिरूप व्यक्ति का शरीर है। और अगर व्यक्ति ध्यान से शरीर की ओर दृष्टि डाले तो यों कह सकते हैं कि ब्रह्माण्ड की समस्याओं का जो मूल केन्द्र है तथा उसका समाधान ढूँढ़ने का क्या उपाय है—जब तक आप इन दोनों को ध्यानपूर्वक मिला करके नहीं देखेंगे, तब तक हम केवल शरीर से समाधान नहीं ढूँढ़ पाएँगे। इसे एक छोटे से व्यावहारिक दृष्टान्त के द्वारा समझने की चेष्टा करें।

आप देखते हैं कि आकाश में सूर्य है और उस सूर्य के प्रकाश में ही हमें और आपको संसार की वस्तुएँ दिखाई देती हैं। पर क्या आपने कभी ध्यान दिया है कि हमारे-आपके शरीर में सूर्य है अथवा नहीं? और उसका उत्तर यह है कि हमारी-आपकी जो आँखें हैं यही शरीर रूप ब्रह्माण्ड का सूर्य है। जो भूमिका नेत्र की है वही सूर्य की है। और हमें दोनों को मिला करके ही चलना होगा। इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्माण्ड वाला सूर्य यदि काम नहीं कर रहा हो, तो आपको कुछ नहीं दिखाई देगा। इसी प्रकार सूर्य का प्रकाश हो रहा हो पर यदि आँखें मुँदी हुई हैं या आँखों में ज्योति नहीं है, तो इतना बड़ा प्रकाशक सूर्य भी आपको वस्तु दिखाने में समर्थ नहीं होगा। मानो नेत्र का जो सूर्य है उसके लिये ब्रह्माण्ड के सूर्य की आवश्यकता है तथा ब्रह्माण्ड के सूर्य के लिये शरीर के रूप में जो ब्रह्माण्ड है, उसके सूर्य की आवश्यकता है। दोनों का संयोग अत्यन्त आवश्यक है। अन्धकार की समस्या का समाधान हमें तभी प्राप्त होता है कि जब प्रकाश भी हो और हमारे पास दृष्टि भी हो। तो ऐसी स्थिति में जो समस्याएँ हमें-आपको बाहर दिखाई दे रही हैं उनका समाधान अगर हम केवल बाहर से प्राप्त करने की चेष्टा करेंगे तो हमारी चेष्टा अधूरी रहेगी। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि हम इस ब्रह्माण्ड तथा

उस ब्रह्माण्ड को एक-दूसरे से तदाकार करने की चेष्टा करें। बल्कि हमारे और आपके जीवन का अनुभव यह है, और किसी-किसी दृष्टि से यह सत्य भी है कि ब्रह्माण्ड के सूर्य तथा हमारे-आपके नेत्र रूपी सूर्य में एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि ब्रह्माण्ड का सूर्य अपनी ओर से किसी को भी प्रकाश से वंचित नहीं करता। वह जब प्रकाश करेगा तो सबके लिये करेगा। यह भेद नहीं करेगा कि हम किसको प्रकाश दें और किसको न दें। और दूसरी ओर आपकी आँखें छोटी भले ही हों, पर उनमें इतनी बड़ी सामर्थ्य है कि जब चाहें सूर्य को देखना बन्द कर दें। सूर्य हमें देखना बन्द नहीं कर सकता, पर हम सूर्य को देखना बन्द कर सकते हैं। इस दृष्टि से विचार करके देखें तो समस्याओं का समाधान अगर केवल बाहर ढूँढ़ने की चेष्टा की जाएगी, तो ब्रह्माण्ड की समस्या का जो सच्चा समाधान है वह व्यक्ति को प्राप्त नहीं होगा। जितनी समस्याएँ बाहर होती हैं उन समस्याओं पर अगर आप विचार कीजिए तो आपको एक दूसरा ही सूत्र दिखाई देगा।

वस्तुतः घटनाएँ तो घटित होती हैं बाहर लेकिन उनका जन्म बाहर होता है कि भीतर, व्यक्ति मन में होता है, अगर इस प्रश्न पर विचार करें तो आपको स्पष्ट दिखाई देगा कि जो घटनाएँ बाहर होती हैं वे भले ही बाहर दिखाई देती हों पर उनका मूल व्यक्ति के अन्तःकरण में होता है। जैसे किसी व्यक्ति ने किसी पर अस्त्र चला दिया, लाठी से मार दिया, तब कहा तो यही जाएगा कि इस व्यक्ति ने इस पर अस्त्र चला दिया, आक्रमण किया। पर प्रश्न यह है जिस व्यक्ति की लाठी चली या अस्त्र-शस्त्र चला, उसका उदय पहले कहाँ हुआ? उसका उत्तर यह है कि पहले मन में क्रोध आया होगा और उसके पश्चात् क्रोध का जो स्थूल रूप है वह हिंसा के रूप में, आक्रमण के रूप में बाहर आया होगा। इस प्रकार से जो घटनाएँ बाहर होती हुई दिखाई देती हैं उनका मूल उद्गम भीतर ही होता है।

गोस्वामीजी के सामने यह प्रश्न पूछा गया कि महाराज! समस्याओं का समाधान करने के लिये इतना प्रयत्न होने पर भी समस्याएँ सुलझ क्यों नहीं पातीं? तुलसीदासजी ने इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये विनयपत्रिका में बहुत सुन्दर-सुन्दर दृष्टान्त दिए हैं। एक दृष्टान्त उन्होंने दिया है कि जैसे किसी व्यक्ति ने अग्नि जलाकर कढ़ाई में घी को पिघला दिया। और

संयोग से रात्रि का समय था तथा पूर्णिमा के चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब उस कढ़ाई में दिखाई दे रहा था। उस प्रतिबिम्ब को देखकर व्यक्ति के मन में आया कि आज तक घी में बहुत सारी चीजें पकाई पर यह जो इतना चमकीला पदार्थ है, आज इसी को पकाएँ और वह उसको पकाने लगा। किन्तु गोस्वामीजी पूछते हैं कि भई! यह बताओ कि यद्यपि चन्द्रमा कढ़ाई में दिखाई दे रहा है। पर वह कितनी आग जलाने पर तथा कितने घण्टे में पकेगा? उनका शब्द यही है कि–

घृत पूरण कराह अन्तरगत ससि प्रतिबिम्ब लखावै। लेकिन, **ईंधन अनल लगाय कल्पसत औटन नास न पावै।** एक-दो घण्टे नहीं अगर सौ कल्प तक भी सारे संसार की लकड़ियों को जलाकर वह पकाता रहेगा तो भी चन्द्रमा परिपक्व नहीं होगा। हाँ! भ्रम हो सकता है। मान लीजिए दिन हो गया और चन्द्रमा दिखाई नहीं पड़ रहा है, तो आप भ्रमवश समझ बैठें कि चन्द्रमा इसमें घुल-मिल गया है। पर जब रात्रि होगी तो फिर दिखाई देगा कि यह तो ज्यों-का-त्यों है। इसी प्रकार हम लोग भी समस्याओं के प्रतिबिम्ब का समाधान नहीं खोज रहे हैं। अगली समस्या का दूसरा दृष्टान्त देते हुए गोस्वामीजी ने कहा कि–

तरु कोटर मँह बसि भुजंग तरु काटै मरै न जैसे।

किसी वृक्ष के कोटर में साँप रहता हो और कोई व्यक्ति उस साँप की समस्या का समाधान पाने के लिये कोटर के भीतर से साँप को निकालकर मारने के स्थान पर अत्यधिक परिश्रम करके वृक्ष को ही जड़ से काटकर फेंक दे तो क्या इससे सर्प की मृत्यु होने वाली है? मानो इन दोनों दृष्टान्तों के द्वारा तुलसीदासजी ने कहा कि हमारी समस्या यह है कि हम समस्या का समाधान पाने के लिये प्रयत्न और परिश्रम तो बहुत कर रहे हैं। इतनी संस्थाएँ, इतने धर्मगुरु, इतने व्यक्तियों के द्वारा एक ही प्रयत्न किया जा रहा है, किन्तु फिर भी जब समाज की समस्या का समाधान नहीं हो पा रहा है तो उसका एकमात्र कारण यही होना चाहिए कि समाधान की पद्धति में ही कोई-न-कोई दोष है। इस सन्दर्भ में वह लघु उपाख्यान आपने अवश्य ही सुना होगा।

किसी व्यक्ति ने निर्णय किया कि रात्रि के समय में नौका पर बैठ करके यहाँ से दूसरे नगर में जाऊँगा। दोनों नगर नदी के किनारे थे।

और नौका चलाने में थकान न आवे इसलिए इसने भंग पी ली और फिर नाव खेने लगा। इस प्रकार वह रात भर नाव खेता रहा, पर जब सूर्य का प्रकाश हुआ और उसने सोचा कि देखें जहाँ मुझे पहुँचना था वह नगर अभी कितनी दूर है तो दिखाई पड़ा कि जहाँ से चला था नाव तो वहीं पर है। उसे आश्चर्य हुआ कि मैंने इतना परिश्रम करके नाव को खेया पर यात्रा पूरी क्यों नहीं हुई? नाव जहाँ की तहाँ क्यों है? और तब किसी बुद्धिमान् व्यक्ति ने संकेत किया, भलेमानुष! नाव तो तुम खेते रहे पर लंगर तो तुमने उठाया ही नहीं और अगर लंगर जहाँ-का-तहाँ पड़ा हुआ है तो तुम रात भर तो क्या जीवनभर खेते रहो तो भी नाव यहीं रहेगी। इन सारे सूत्रों का अभिप्राय यह है कि समस्याओं का समाधान केवल बाहर मत ढूँढ़िये। केवल बाहर समाधान खोजने पर समाधान क्षणिक होगा, अधूरा होगा। इसलिए समस्याओं का पूरा समाधान पाने के लिये बाहर भी प्रयत्न करना है और भीतर भी प्रयत्न करना है।

दूसरे दृष्टान्त में यों कह सकते हैं कि जैसे सिर में पीड़ा की अनुभूति होने पर व्यक्ति चाहता है कि किसी तरह पीड़ा से जल्दी से जल्दी छुट्टी मिले। और शीघ्र छुट्टी पाने के लिये वह किसी-न-किसी दवाई का लेप कर लेता है। बहुधा दवा का लेप करने या बाम लगाने पर व्यक्ति की पीड़ा कुछ समय के लिये शान्त हो जाती है। कोई गोली आप खा लेंगे तो कुछ घण्टे के लिये आपका सिर-दर्द शान्त हो जाएगा और आपको ऐसा लगता है जैसे सिर-दर्द शान्त हो गया। किन्तु क्या सचमुच फिर से सिर-दर्द नहीं होगा? वस्तुतः वह तो क्षणिक समाधान है। इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति वह है, जो बाहर से तो दवा का लेप करे ही, बाहर से तो कोई दवा इत्यादि खा करके आराम पा ही ले, पर केवल इतने से ही सन्तुष्ट न हो जाए, अपितु उसका कारण जानने की चेष्टा करे। वस्तुतः एक तो रोग का लक्षण होता है तथा एक होता है रोग का कारण। रोग का लक्षण होता है बाहर और कारण होता है भीतर। और रोग के लक्षण की दवा करने से क्षणिक समाधान तो मिलता है पर पूरा समाधान तो रोग के कारण का पता लगाने पर ही मिलता है। इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति यह पता लगावेगा कि हमारे सिर में जो दर्द होता है वह क्यों होता है? कभी-कभी आँख दिखाई जाती है अथवा अन्य परीक्षण कराए जाते हैं और तब यदि यह

पता चल जाय कि आँख में कमी के कारण सिर दर्द होता है तो जब तक आँख की समस्या का समाधान नहीं होगा, तब तक वह सिर-दर्द दूर नहीं होगा। इसलिए अगर हम संसार, समाज तथा अपने जीवन में घटित होने वाली घटनाओं का समाधान ढूँढ़ना चाहें, तो समाधान पाने के लिये आवश्यक है कि हम केवल बाहर के ब्रह्माण्ड को न देखें अपितु अपने अन्तःकरण में, अपने आपके शरीर के रूप में जो ब्रह्माण्ड है उसके अन्तरंग में प्रवेश करके वहाँ उस समस्या का मूल कारण, और मूल कारण का निदान खोजकर उसका निराकरण करने की चेष्टा करें।

गोस्वामीजी ने भगवान् राम की जो कथा रामायण के माध्यम से कही उसके दो पक्ष हैं। एक तो आप कथा सुनते हैं, शब्द के माध्यम से, कान के माध्यम से तथा दूसरे आप ग्रन्थ के माध्यम से मानो या रामलीला के माध्यम से देखते भी हैं। पर प्रश्न तो यह है कि देखने की सार्थकता जैसी होनी चाहिए क्या वैसी ही रही है? प्रतिवर्ष रामलीला होती है, लाखों दर्शकों की भीड़ होती है। रावण का पुतला जलाया जाता है तो भी रावण अगले वर्ष फिर से ज्यों-का-त्यों दिखाई देता है और रामलीला करने वालों में यह होड़ लग जाती है कि इस वर्ष सबसे ऊँचा रावण किसका है? आजकल राम से ज्यादा ऊँचा रावण को बनाने की होड़ लगी हुई है। बात घूम-फिर करके वहीं आती है कि जब तक हम बाहर ही देखेंगे तब तक समाधान सम्भव नहीं है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि हम बाहर देखना ही बन्द कर दें, बाहर चलचित्र के माध्यम से उसे न देखें, लेकिन हाँ! बाहर और भीतर को जोड़ने की चेष्टा अवश्य कीजिए। इसका अभिप्राय है कि जब हम बाहर और भीतर दोनों को एक साथ जोड़ देंगे तो पूरा लाभ होगा। और अगर केवल बाहर से उसका उपयोग करेंगे तो जितनी देर आप देख रहे हैं आपको आनन्द आ रहा है। जितनी देर आप सुन रहे हैं आपको आनन्द आ रहा है। परन्तु इसमें पूर्णता नहीं है। यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसमें भी लाभ है। आप कथा सुन रहे हैं, तो कम से कम आपस में लड़ तो नहीं रहे हैं, दूसरे की निन्दा तो नहीं कर रहे हैं। दूसरों की निन्दा-स्तुति में तो दृष्टि नहीं जा रही है, यह भी एक लाभ है, पर बुराई की समस्या तो ज्यों-की-त्यों दिखाई दे रही है। यों कह लीजिए कि रावण का सिर जो भगवान् राम के द्वारा कट जाता है, वह

फिर से नए रूप में निकल आता है, इसी प्रकार से कथा का वास्तविक लाभ कब होगा आइए इस पर कुछ विचार करें!

गोस्वामीजी ने इस दोहे में एक महत्त्वपूर्ण सूत्र देते हुए कहा कि भई! आप कथा को भीतर ले आइए। अन्तःकरण चतुष्टय में ले आइए। अन्तःकरण चतुष्टय का नाम आपने सुना होगा जिसमें मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार इन चारों का समावेश है। हमारे-आपके जीवन के जो सारे व्यवहार चल रहे हैं उनमें इन चारों का ही खेल आपको दिखाई देगा। मन तो न जानें कितनी समस्याओं का स्रष्टा है—सबका उद्भव मन में ही होता है। मन की वासनाएँ, मन में उत्पन्न होने वाले विकार ही इन्द्रियों को प्रेरित करते हैं और तब इन्द्रियाँ सक्रिय होकर विषयों की ओर जाती हैं और हमारे मन में उठने वाली तरंगें जब इन्द्रियों के माध्यम से प्रत्यक्ष रूप से साकार हो जाती हैं बस वहीं पाप की क्रिया बन जाती है। वस्तुतः मन का तो बड़ा विचित्र खेल है। इसलिए इस युग के लोगों को बड़ी छूट दी गयी है, पर उस छूट का दुरुपयोग हमें नहीं करना चाहिए। और जो छूट दी गयी है उसके सन्दर्भ में तो आपने पढ़ा ही होगा कि—

कलिकर एक पुनीत प्रतापा।
मानस पुण्य होई नहि पापा॥७/१०२/८

अन्य युगों में व्यक्ति जो मन से पाप करता था उसका भी उसको फल भोगना पड़ता था, पर कलियुग में छूट दी गयी कि मन से किए जाने वाले पुण्य का फल तो होता है, पर पाप का फल नहीं होता। और इसका अभिप्राय यह है कि जैसे ग्रहण लगता है तो बच्चों को छूट दी जाती है कि तुम लोग व्रत-उपवास नहीं कर सकते हो, तो चलो तुम यह मत करो! इसलिए बालक, बूढ़े तथा रोगियों को हमारे शास्त्र में छूट दी जाती है। पंचांगों में लिखा रहता है—'बालवृद्धातुरैर्विना।' बालक, वृद्ध तथा आतुरों को छोड़ करके। तो भाई! कलियुग के लोगों के लिये अगर यह कह दिया जाता कि मन में उठने वाले जितने संकल्प हैं उनका दण्ड भोगना पड़ेगा, तब तो फिर अनर्थ ही हो जाता। क्योंकि गोस्वामीजी ने एक व्यंग्य करते हुए कहा कि यहाँ तो मन की दशा यह हो गयी है कि—

कलि केवल मल मूल मलीना।
पाप पयोनिधि जन मन मीना॥१/२६/४

व्यक्ति का मन मछली है और पाप के समुद्र में ही उसको आनन्द आ रहा है, मन में तो बुराइयों का ही चिन्तन होता रहता है। इस युग में बुराइयाँ बड़ी प्रचुर मात्रा में व्यक्ति के अन्तःकरण में आती हैं, यह समझ करके छूट दी गयी है। पर अगर आप गहराई से विचार करके देखें तो छूट जितनी बड़ी लगती है, उतनी बड़ी है नहीं। इतना तो जरूर है कि हमारे मन में बुराई का जो संकल्प उठा, अगर वह प्रत्यक्ष रूप से साकार न हो, क्रिया में परिणत न हो, तो हम मन के पाप से बच गए, पर बहुधा होता यही है कि मन तो जब भी किसी वस्तु का चिन्तन करेगा, उसको साकार करने की चेष्टा भी अवश्य करेगा। जैसे मन से अगर सौन्दर्य का चिन्तन हुआ तो मन इतने से ही नहीं रुक जाता, अपितु वह नेत्रों के सहारे उस सौन्दर्य को देखने की चेष्टा भी करता है। इस प्रकार मन की यह समस्या है कि इनमें वासनाएँ हैं अगणित संस्कार हैं और व्यक्ति के अन्तर्मन में वासनाओं की निरन्तर यह विचित्र लीला चल रही है और तब प्रश्न यह है कि मन की इस समस्या का समाधान कैसे हो? मैंने जैसा आपसे कहा कि छूट दे देने मात्र से सच्चे अर्थों में समाधान नहीं हुआ; क्योंकि छूट मिलने के बाद जब व्यक्ति मन के विचार को क्रियान्वित करने की चेष्टा में लग जाय और बहुधा करता भी यही है, तो मानो वह दण्ड का भागी बन ही गया। तो मन की समस्या का समाधान कैसे हो? यह पहला सूत्र है।

दूसरी ओर व्यक्ति की बुद्धि है बल्कि इसको ऐसे माना गया कि व्यक्ति के जीवन में तीन अवस्थाएँ नित्य आती हैं—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। इनमें बँटवारा-सा हो गया है। जब हम दिन में व्यवहार-जगत् में उतरते हैं तो मन के ऊपर बुद्धि का नियन्त्रण करके व्यवहार करते हैं। इसका सीधे-सा अर्थ यह है कि मन में जो-जो बात आए, अगर आप वही बोलना प्रारम्भ करें, वही करना प्रारम्भ करें, तो एक ही दिन में न जाने कितनी बार व्यक्ति संकट में फँस जाएगा। इसलिए मन में बातें तो न जाने कितनी आती हैं, पर व्यक्ति दिन में बुद्धि के द्वारा मन को दबा देता है और जो दबा नहीं पाते, उन्हीं को पागल कहा जाता है। वैसे पागल और हम लोगों में मानसिक दृष्टि से अन्तर नहीं है। हाँ! अन्तर केवल इतना ही है कि पागल के मन पर बुद्धि का नियन्त्रण नहीं होता

और हम लोगों के मन पर बुद्धि का नियन्त्रण है। पागल के मन में जो भी बात आएगी वह बक देगा तो हम कहेंगे पागल है। वैसे उस प्रकार की बातें बोलने का बहुतों को मन होता रहता है, यह बात नहीं है कि पागल के जैसी बेतुकी बातें हम लोगों के मन में न आती हों। आप यहाँ पर बैठे हुए हैं और आपका मन पता नहीं कहाँ-कहाँ के चक्कर काट रहा होगा? परन्तु बुद्धि के द्वारा उसको प्रकट नहीं होने दे रहे हैं। और पागल की स्थिति यह है कि वह मन के वशीभूत है। उसके जीवन से विवेक का नियन्त्रण समाप्त हो गया है और समाज तो भाई! बुद्धिपूर्वक ही चलता है। इसमें बुद्धि के नियन्त्रण के कारण सुरक्षा है—इसलिए जाग्रत् अवस्था में बुद्धि की प्रधानता है।

जब हम सपना देखते हैं, तब न तो बुद्धि की सत्ता है न शरीर का काम है और न ही इन्द्रियों का कोई काम होता है। यह तो मात्र मन का खेल है। जब शरीर थक गया, बुद्धि थक गयी तब मन ने कहा—दिन भर तुमने हमको सताया अब तुम सो जाओ और हम अपनी दुनिया बनाकर उसमें आनन्द लेंगे। और यह सपना तो वस्तुतः मन का खेल है। इसलिए दिन में बहुत-सी बातें जो आप बुद्धि से दबा देते हैं, स्वप्न में उन्हीं को देखने लग जाते हैं। वहाँ पर आपके मन का संसार बन गया, रूप दिखाई देने लगा और बिना बुद्धि तथा शरीर के मन का सारा खेल चल रहा है। इस सन्दर्भ में मुझे एक संस्मरण याद आ रहा है। ब्रह्मलीन स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज के सान्निध्य में मैं वृन्दावन में था। मेरे परिचित एक सज्जन और थे, जो कि स्वामीजी महाराज के बड़े सेवक थे, समस्त शिष्यों में सबसे अधिक सेवा वही करते थे, पर एक दिन उन्होंने मुझसे एकान्त में कहा, क्या बताऊँ, मैं दिन भर इतनी सेवा करता हूँ, पर मैं सपनों में यही देखता हूँ कि महाराजश्री ने मुझसे कहा कि यह कार्य करो और मैंने नहीं कर दिया। ऐसा क्यों होता है? मैंने कहा कि भई! सत्य तो यह है कि दिन में भी आपको लगता तो बुरा है कि सबसे अधिक सेवा मुझसे ही कराई जाती है और मन भी होता है कि नहीं कर दें, पर आपका विवेक जाग्रत् रहता है; इसलिए कहता है कि नहीं-नहीं, गुरु की आज्ञा का पालन करना चाहिए, सेवा करनी चाहिए। पर जब आप सोते हैं तो मन के गुरुजी के सामने नहीं करने में तो कोई डर नहीं

है। इसलिए इस समय मन का जो वास्तविक चित्र है वही आपके व्यवहार में परिलक्षित होता है। इसका सीधा-सा अभिप्राय है कि रात्रि में सपना मन का खेल है।

जाग्रत् में बुद्धि की प्रधानता है और जब गहरी नींद में सो जाते हैं, तो प्रश्न यह है कि सो जाने के पश्चात् भी कोई शेष है कि नहीं। क्योंकि वहाँ पर तो मन भी नहीं है, सपना दिखाई दे रहा है। बुद्धि से कोई व्यवहार भी नहीं हो रहा है। पर अगर विचार करके देखें तो वहाँ पर भी एक तत्त्व विद्यमान है और वह है 'अहं'। क्योंकि जब आप सो करके उठेंगे तो आपके मुख से निकलेगा—'मैं बड़े सुख से सोया'। इसका अभिप्राय है कि जिसने सुख का अनुभव किया, वह 'मैं' था और वह उस समय भी चैतन्य था। इस प्रकार ये तीन अवस्थाएँ इन तीनों से जुड़ी हुई हैं, किन्तु एक चौथी अवस्था और है। संयोग से इस बार कथा भी उसी चौथी अवस्था से जुड़ी हुई है जो इन तीनों के पीछे विद्यमान है।

प्रश्न यह है कि मन, बुद्धि, अहंकार से अलग कोई स्थिति है कि नहीं। व्यक्ति को जो स्वप्न दिखाई देता है अथवा बुद्धि के द्वारा व्यक्ति जब कोई निर्णय करता है या व्यक्ति के मन में जब कोई संकल्प-विकल्प आता है, तो उसके पीछे कौन होता है? जैसे रंगमंच पर कठपुतलियाँ नाच रही हों तो हमें यह पता लगाना चाहिए कि कठपुतलियों का सारा खेल तो चल रहा है, पर इनका सूत्रधार कौन है? और उस सूत्रधार की विशेषता यह होती है कि कठपुतलियाँ बाहर होती हैं और सूत्रधार पर्दे की आड़ में बैठा रहता है। और वह नाटक तब तक चलता रहेगा, जब तक सूत्रधार नचाता रहेगा। इसी प्रकार हम यह विचार करके देखें कि मन, बुद्धि, अहंकार के पीछे वह कौन-सा सूत्रधार है, जो इन तीनों को समान रूप से संचालित कर रहा है। जब हम बुद्धि से निर्णय करने लगते हैं तो पीछे से कौन हमारी बुद्धि को निर्णय करने में प्रेरणा देता है? जब मन में संकल्प-विकल्प आता है, तो मन के पीछे कौन होता है? और हमारे अहंकार के पीछे भी कोई है क्या? और अगर विचार करके देखें तो वही चौथा तत्त्व है, जिसका नाम है 'चित्त'। और विचित्रता यह है कि मन, बुद्धि, अहंकार का सम्बन्ध तो इसी जन्म से है पर चित्त का सम्बन्ध व्यक्ति के पूर्व-पूर्व जन्मों से है।

व्यक्ति के जो अनगिनत जन्म पहले हो चुके हैं भले ही उनका क्रियात्मक शरीर मिट गया हो, स्थूल शरीर समाप्त हो गया हो, पर उसके संस्कार जहाँ पर भरे हुए हैं क्या उस केन्द्र पर आपने कभी विचार किया? आपने देखा होगा कि घर में और कमरे तो बड़े सजे हुए रहते हैं, पर एक कमरा ऐसा होता है जहाँ सारी वस्तुएँ डाल दी जाती हैं। उसको यदि देखेंगे तो सबसे बड़ी विचित्रता आपको उसी में दिखाई देगी। और यही वह सबके पीछे संस्कारों का केन्द्र है जिसके सम्बन्ध में बहुधा यह प्रश्न उठाया जाता है कि क्या कारण है कि व्यक्ति बुद्धि के द्वारा असंख्य बार पश्चात्ताप किए जाने पर भी जीवन में वही-वही भूलें दोहराता है, जो उसे नहीं दोहरानी चाहिए।

गोस्वामीजी ने इसका सूत्र दिया कि जैसे कुछ कार्य तो व्यक्ति बुद्धि के द्वारा समझाने पर करता है तथा कुछ कार्य ऐसे होते हैं कि जिन्हें व्यक्ति अभ्यास के कारण, अपनी आदत के कारण करता है—जैसे बच्चे बहुधा जब छोटे होते हैं तो मुँह में उँगली डालने लगते हैं और वही बालक जब बड़ा हो गया तो अधिकांश का अभ्यास धीरे-धीरे छूट गया पर कई बालक तो ऐसे होते हैं जो बड़े हो जाने पर क्या, बूढ़े हो जाते हैं फिर भी उनका अभ्यास बना रहता है। उसने पूछ दीजिए कि ऐसा क्यों करते हो तो वे यह भाषण नहीं देंगे कि उसकी क्या-क्या उपयोगिताएँ हैं, अपितु वे तो यही कहेंगे, क्या बतावें, आदत पड़ गयी है। यानि पड़ गयी है, छूटती नहीं है। गोस्वामीजी कहते हैं कि ठीक इसी प्रकार यह मन, बुद्धि, अहंकार का खेल तो इस जन्म का है, पर चित्त में संस्कार तो कई जन्मों के भरे हुए हैं। इसको लेकर के कभी-कभी बड़े विनोद भरे प्रसंग भी आते हैं।

श्रीकृष्ण लीला में वर्णन आता है कि एक बार यशोदा मैया ने जब देखा कि श्रीकृष्ण मिट्टी में लिपट गये हैं, तो थोड़ा क्रोध में आ करके उन्होंने कहा कि कन्हैया! मैंने सुना है कि इस जन्म में व्यक्ति भले ही कुछ भी क्यों न बन जाय पर पूर्व जन्म के संस्कार भी शेष रहते हैं, इसलिए तुम्हें देखकर मैं बता सकती हूँ कि तुम पूर्व जन्म में क्या थे? श्याम सुन्दर ने आश्चर्य से माँ की ओर देखा। अच्छा, बताओ मैं पूर्वजन्म में क्या था? माँ ने तुरन्त कहा कि—

त्वं शूकरोऽसि गत जन्मनि पूतनारे।

लगता है तुम पूर्वजन्म में अवश्य 'शूकर' थे। क्योंकि मनुष्य को तो कीचड़ से इतना प्रेम नहीं होता पर शूकर को होता है। इसलिए लगता है कि तुम मनुष्य तो बन गये पर वह अभ्यास तुम साथ में ही लेते आए हो। भगवान् ने माँ का वाक्य सुनकर मन-ही-मन प्रणाम करके माँ की प्रशंसा की कि माँ तुम धन्य हो क्योंकि नाराजगी में भी तुमने सत्य कह दिया। सचमुच मैं तो पहले शूकर भी बन चुका हूँ। रामायण में तो कहा ही गया है कि—

मीन कमठ सूकर नरहरी।
बामन परसुराम बपु धरी॥६/१०६/७

वे तो शूकर-रूप भी धारण कर चुके हैं। पर उस कथा का मूल संकेत भी यही है कि अगणित जन्मों के संस्कार व्यक्ति के जीवन में विद्यमान रहते हैं। आप देखते भी हैं कि जीवन में कभी पूजा करने का मन हो जाता है, कभी निन्दा करने का मन हो जाता है, कभी झगड़ा करने का मन हो जाता है। आश्चर्य होता है कि एक ही व्यक्ति परस्पर विरोधी कार्य क्यों करने लग जाता है? और उसका उत्तर यही है कि चित्त में किसी जन्म के झगड़ालू संस्कार हैं, किसी जन्म में आपने पूजा-पाठ अधिक किया है, उसका भी अभ्यास है। किसी जन्म में आप सज्जन रहे तो सज्जनता का भी संस्कार है और किसी जन्म में आप दुर्जन रह चुके हैं, तो दुर्जनता का अभयास भी बना हुआ है और उसका परिणाम यह होता है कि जिस समय जो संस्कार प्रबल हो जाय और जिस संस्कार को प्रबल होने के लिये जैसा वातावरण मिल जाए, संस्कार वैसी ही प्रेरणा देंगे। इसके लिये एक दूसरा दृष्टान्त रामायण में वर्षा ऋतु का दिया गया है।

वर्षा ऋतु में अगर आप देखें तो आपको चारों ओर रंग-बिरंगे कीड़े-मकोड़े दिखाई देंगे। अन्य ऋतुओं में तो ये दिखाई देते नहीं हैं; पर आश्चर्य है कि वर्षा ऋतु में विविध प्रकार के इतने कीड़े कहाँ से आ गये क्योंकि ऊपर से तो गिरते नहीं हैं और इसका सीधा-सा उत्तर है कि वे रहते तो पृथिवी के भीतर ही हैं। पर वर्षा होने पर उनको बढ़ने की क्षमता प्राप्त हो जाती है। और जो भीतर था वही बाहर निकल आता है। ठीक इसी प्रकार से हमारे-आपके अन्तःकरण में भी संस्कार हैं तो पर छिपे हुए हैं। जब वर्षा

होती है तो छिपे हुए संस्कार बाहर प्रकट हो जाते हैं। रामायण में इसके लिये दृष्टान्त दिया गया है महारानी कैकेयी का। दृष्टान्त पढ़कर आश्चर्य होता है, क्योंकि महारानी कैकेयी के जीवन में इतनी अच्छी बातें थीं, इतने सद्गुण थे, पर यह बुराई कहाँ से आ गई? परन्तु गोस्वामीजी ने इसका विश्लेषण करते हुए बड़े सुन्दर सूत्र दिए हैं।

समाज में कई लोग तो कैकेयी की प्रशंसा करते हुए नहीं थकते हैं। पर यह तो एक भावनापूर्ण दृष्टि है, जिससे आप कैकेयी को यह कह करके धन्यवाद दे दें कि अगर उन्होंने श्रीभरत जैसे सन्त को जन्म न दिया होता तो क्या होता? यद्यपि प्रभु ने भी यही कहा। भगवान् श्रीराम ने कैकेयीजी को यही कहकर धन्यवाद दिया कि अगर आप वन न भेजतीं तो रावण का वध कैसे होता? पर भई! यह ध्यान रखिएगा कि वह सत्य प्रभु के शील का सत्य है, हम लोगों के जीवन में उतारने का सत्य नहीं है। यह तो उसी प्रकार की बात हुई कि जैसे किसी पुलिस अधिकारी को वीरता का एक पदक मिले और वह अपराधी को धन्यवाद देने लगे कि आप न होते तो हमें सम्मान कहाँ से मिलता? इसलिए आप बने ही रहिए तो बहुत बढ़िया है। गोस्वामीजी ने दृष्टान्त बहुत बढ़िया दिया। उन्होंने कहा कि कैकेयीजी के चरित्र में भी कुछ बातें ऐसी थीं जो अयोध्या के संग से ऊपर उनके व्यवहार में दिखाई दे रही थीं, पर कुछ ऐसी बातें थी, जो नींव के नीचे गड़ी थीं। बस मूल सूत्र यही है कि महारानी कैकेयी का जन्म हुआ कैकय देश में और जब वे अयोध्या में आयीं तो उनके देश तथा परिवार के जो संस्कार थे वे जीवन से कहीं चले थोड़े ही गये थे, जैसे—गर्मी की ऋतु में कीड़े-मकोड़े भीतर तो रहते हैं पर बाहर नहीं दिखाई देते, ठीक इसी प्रकार से जो संस्कार उनके पिता से मिला हुआ था वह मिटा नहीं था अपितु छिप गया था।

वर्णन आता है कि विवाह के पहले ही महाराज श्रीदशरथ से कैकय नरेश ने यह वचन लिया कि मेरी कन्या से जो पुत्र होगा, उसी को राज्य मिलेगा। अब आप देखिए कितनी अनोखी बात है कि एक ओर तो अयोध्या में कैकेयीजी यह कहने लगीं कि राज्य राम को मिलना चाहिए और दूसरी ओर उनके पिता ने यह कह रखा था कि मेरी कन्या के पुत्र को राज्य मिलना चाहिए, पर प्रश्न यह है कि अन्त में विजय किसकी हुई? वस्तुतः

कैकेयीजी जो बाहर से बोलती हुई दिखायी देती हैं, वह तो व्यावहारिक शब्द थे, जो अयोध्या के वातावरण में उन्होंने सीख लिये थे। पर जो वह चाहती थी वह यह है कि उनका अपने पिताजी का संस्कार बना रहे। यहाँ पर गोस्वामीजी कैकेयीजी की बुद्धि को आध्यात्मिक रूप से निम्न दृष्टान्त द्वारा प्रस्तुत करते हैं—

बिपति बीजु बरषा रितु चेरी।
भुइँ भइ कुमति कैकेयी केरी॥२/२२/५

कैकेयीजी की बुद्धि भूमि है। इसका अभिप्राय यह है कि अयोध्या के प्रभाव से, अयोध्या के वातावरण से, अयोध्या के लोगों में जो सद्भाव था, कौसल्याजी, सुमित्राजी, आदि रानियों में जो स्नेह था, अयोध्यावासियों में जो परस्पर सद्भाव था, उन सबका प्रभाव कैकेयीजी के अन्तःकरण में ऊपर से पड़ा और फिर भगवान् श्रीराम का जो शीलमय व्यवहार था, श्रीराम जिस प्रकार से सर्वदा कैकेयीजी के निकट ही रहते हैं, उन्हीं को माँ कहकर पुकारते हैं, उसका परिणाम यह हुआ कि कैकेयीजी अत्यधिक प्रभावित हो जाती हैं तथा उनकी वाणी में भी वही उदारता परिलक्षित होती है। इसीलिए कैकेयीजी के बदलाव को देखकर सारी अयोध्या में यह तहलका मच गया कि अरे! कैकेयी को क्या हो गया? पर उन्हें अभी यह पता नहीं था कि नया कुछ नहीं हो गया अपितु जो भीतर था वह केवल दब गया था। उनके अन्तःकरण में पिता के द्वारा डाले गये जो संस्कार थे वे तो पहले से ही भीतर विद्यमान थे और जब मन्थरा के रूप में जो वर्षा हुई तो वे संस्कार बाहर आ गए। वस्तुतः कैकेयी का यह द्वन्द्व केवल उनका अपना ही द्वन्द्व न होकर वह तो हमारे-आपके जीवन का भी द्वन्द्व है। अगर दो प्रकार के संस्कार होंगे तो जो संस्कार दबे हुए हैं वे भी अवसर पाकर बिना जाग्रत् हुए नहीं रहेंगे। यह संकेत हमें अनेक प्रसंगों में प्राप्त होता है।

रामायण में भी आप पढ़ते हैं कि रावण जब श्रीसीताजी का हरण करने लगा तो श्रीजानकीजी ने रावण को फटकारा। उस समय रावण ने श्रीसीताजी के चरणों में प्रणाम किया—

सुनत बचन दससीस रिसाना।
मन महुँ चरन बंदि सुख माना॥३/२७/१६

इसको पढ़ करके अगर आप रावण को सन्त की उपाधि दे दें, महान् भक्त की उपाधि दे दें, कि वाह, यह तो चरणों में प्रणाम कर रहा है, तो क्या आप रावण के चरित्र को ठीक-ठीक समझ पाए? वस्तुतः इसका अभिप्राय तो यही है कि एक ओर तो उसमें रावणत्व के संस्कार व्याप्त हैं, दूसरी ओर पूर्व जन्म के संस्कार भी विद्यमान हैं और उसके मूल में कहीं-न-कहीं जो संस्कार दे बीज हैं, वही प्रेरित कर रहे हैं। इसलिए रामायण में यह सूत्र दिया गया है कि–

सुमति कुमति सबके उर रहहीं।
नाथ पुरान निगम अस कहहीं॥५/३९/५

सुन्दर बुद्धि और कुबुद्धि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में रहती है, पर उसका मूल तत्त्व क्या है? उस पर जरा दार्शनिक दृष्टि से विचार करके देखिए। हमारे पुराणकार कहते हैं कि जब तक ईश्वर का अवतार न हो, तब तक कल्याण नहीं होगा। अवतार का अभिप्राय है नीचे उतरना। और हमारे-आपके जीवन का भी यह सत्य है। हमारे-आपके शरीर में सिर, हृदय तथा चरण ये तीन अंग प्रमुख हैं। इनमें सिर ऊपर है हृदय उससे नीचे है और सबसे नीचे चरण हैं। इसका अभिप्राय यह है कि मस्तिष्क में ऊँचे विचार आ करके क्या करेंगे, अगर वे हृदय में नहीं उतरेंगे। प्रश्न यह है कि मस्तिष्क से उतरकर के हृदय में आया कि नहीं आया? यही अवतारवाद का सिद्धान्त है। अवतारवाद की मूल धारणा यह है कि ब्रह्म जो है भक्तों के प्रेम से वशीभूत होकर के अवतार ग्रहण करता है। और प्रेम का केन्द्र हृदय है। इसका अभिप्राय है कि हमारे मस्तिष्क का विचार जब हृदय में उतर आवे, तो अवतार हुआ। और उसके बाद चरण में उतरने का अर्थ है क्रिया में आ जाना। हमारे मस्तिष्क का सत्य जब तक हृदय में नहीं आता और हृदय की बात जब तक क्रिया में क्रियान्वित नहीं होती तब तक अवतार पूरा नहीं हुआ और जब तक अवतार पूरा नहीं होता, तब तक आप बढ़िया बात सोचते रहिए, परन्तु जीवन में नहीं उतर सकती।

यह तो हम-आप सबको ज्ञात है कि ब्रह्म सर्वत्र विद्यमान है पर ब्रह्म के विद्यमान होते हुए भी उसके अवतार की अपेक्षा है। और इसका सूत्र वही है कि जैसा मैंने आपसे कहा–वस्तुतः हमारे जीवन में रावण की तरह द्विविधा है। रावण के मन में प्रणाम करने की इच्छा का वर्णन तुलसीदासजी

रावण को सन्त बनाने के लिये नहीं लिखते या रावण के अनुयायी बनने के लिये नहीं लिखते हैं। वस्तुतः उनका उद्देश्य तो यही है कि देखो, तो इतने बुरे व्यक्ति के हृदय में भी क्षणिक अच्छे विचार आ जाते हैं। पर उसे हम बुरा इसलिए कहते हैं; क्योंकि उन विचारों को वह जीवन में क्रियान्वित नहीं कर पाता है। अगर उसकी मातृबुद्धि प्रबल हो जाती है और माँ के चरणों में प्रणाम करने के बाद यदि वह मातृदृष्टि से देखता, तो धन्य हो जाता। पर एक क्षण प्रणाम करने के पश्चात् उन्हीं श्रीसीताजी को ले जा करके अशोक वाटिका में बैठाकर, राक्षसियों को आज्ञा देता है कि इन्हें डराओ और साथ-साथ श्रीसीताजी से यह भी कहता है कि–

एक बार बिलोकु मम ओरा।

'तुम एक बार मेरी ओर दृष्टि तो डालो'–इसका अभिप्राय यह है कि हम लोग रावण के एक वाक्य को तो इतना महत्त्व देते हैं पर उसके पूरे व्यवहार को भूल जाते हैं। मानो मूल तत्त्व यह है कि सबसे पीछे हमारे संस्कार हैं जो चित्त में भरे पड़े हैं, अगर उन पर किसी तरह से नियन्त्रण हो सके, चित्त पर किसी तरह से अधिकार हो सके, तो उसका परिणाम यह होगा कि बाहर की जो गतिविधियाँ हैं वे ठीक-ठीक संचालित होने लगेंगी। इसलिए महर्षि पतञ्जलि ने योग दर्शन में योग की व्याख्या करते हुए यही सूत्र दिया कि–

योगः चित्तवृत्तिनिरोधः।

योग का तात्पर्य है 'चित्तवृत्ति का निरोध' और उस चित्तवृत्ति के निरोध द्वारा इन समस्याओं का समाधान होता है। अब आइए! इसको थोड़ा-सा सूत्र के रूप में समझ लें।

अयोध्या तथा चित्रकूट यह है क्या? यद्यपि बाहर अयोध्या एक नगर है, प्रभु की लीला का दिव्यधाम है और प्रभु का दूसरा दिव्यधाम चित्रकूट बाँदा जिले में है। पर अयोध्या तथा चित्रकूट की एक सूत्रात्मक व्याख्या और भी की गयी है और वह यह है कि अयोध्या बुद्धि है तथा चित्रकूट चित्त है। यद्यपि अयोध्यारूपी बुद्धि में बहुत बढ़िया-बढ़िया बातें थीं, पर क्रिया में कैकेयीजी के जीवन में जो कुछ हुआ वह तो बिल्कुल उल्टा दिखाई पड़ा। जिस समय चित्रकूट में रानियों का मिलन हुआ, तो सुनयनाजी ने यद्यपि सीधे कैकेयीजी का नाम नहीं लिया, पर व्याकुलता भरे स्वर में

उन्होंने यही कहा कि–

सुनिय सुधा देखिअहिं गरल सब करतूति कराल।
जहँ तहँ काक उलूक बक मानस सकृत मराल॥२/२८१/०

बड़े उलाहने के स्वर में सुनयनाजी ने कहा–क्या बतावें, अमृत का नाम ग्रन्थों में पढ़ने और सुनने को मिलता है पर बाजार में तो जहर ही बिकता हुआ दिखाई देता है और हंस का तो पता नहीं कहाँ है पर बगुले को बहुधा देखते हैं। मानो कैकेयीजी पर व्यंग्य था कि सुना तो यही था कि कैकेयीजी बड़ी उदार हैं वे तो अपने पुत्र की अपेक्षा राम को अधिक चाहती हैं। राम को राज्य दिलाने के लिये व्यग्र हैं, पर जब अवसर आया तो आचरण बिल्कुल उल्टा ही हुआ। यद्यपि कौसल्याजी ने उनका समाधान देने की चेष्टा की और यह सोचा कि कैकेयीजी को कहीं दुःख न हो, पर उसका मूल सूत्र मैं आपके सामने यह बता दूँ कि बुद्धि में जहाँ अनेक विशेषताएँ हैं वहीं पर बुद्धि के साथ-साथ समस्याएँ भी जुड़ी हुई हैं। इसी प्रकार बुद्धि की जो विशेषताएँ हैं वे भी अयोध्या में हैं और बुद्धि में जो समस्याएँ होती हैं वे भी अयोध्या में हैं। आपको वहाँ पर दोनों पक्ष दिखाई देंगे। अयोध्या की भूमि की इससे बढ़कर पवित्रता क्या होगी, बुद्धि की इससे अधिक पवित्रता क्या होगी कि वहाँ चारों ओर सज्जनता, श्रेष्ठता का ही वातावरण विद्यमान है। लेकिन प्रश्न यह है कि फिर अनर्थ क्यों हुआ? और इसका उत्तर यही है कि अयोध्या के सारे सन्तों के बीच में एक मन्थरा विद्यमान थी। और याद रखिएगा कि हम लोगों की बुद्धि में भी एक-एक मन्थरा बैठी हुई है। यद्यपि कौसल्या और सुमित्रा भी हैं पर साथ-साथ मन्थरा भी बैठी हुई है, यह मत भूलिएगा।

कुछ विकारों का सम्बन्ध विशेष रूप से मन से है तथा कुछ का सम्बन्ध अहंकार से है तथा कुछ विचारों का सम्बन्ध बुद्धि से है। जीवन में जितने भी कार्य होते हैं उनमें कुछ अहंकार की प्रेरणा से होते हैं, कुछ बुद्धि के द्वारा होते हैं तथा कुछ मन के द्वारा होते हैं। आप अगर गहराई से इस पर दृष्टि डालें तो देखेंगे कि जैसे काम की वृत्ति है, तो काम का जन्म जब होगा तो मन से होगा। इसलिए काम का एक नाम दिया गया मनोज, जिसका जन्म मन से हुआ हो। क्रोध का उदय होता है अहंकार से तथा लोभ का उदय होता है बुद्धि से। क्रोध तब आता है जब हमारे अहं पर चोट लगती

है। जब लगता है इसने मेरा अपमान कर दिया, इसने मेरे प्रति उचित व्यवहार नहीं किया! मानो हमारा अहंकार जब चोटिल होता है तो हमें क्रोध आ जाता है और क्रोध के माध्यम से हम अपनी प्रतिक्रिया को प्रकट करने की चेष्टा करते हैं। हमारे मन में रस की जो प्यास है उसके लिये जब कहीं वह सौन्दर्य देखता है तो आकर्षित होता है। जैसे कुछ सुस्वादु व्यंजन देख करके खाने की वृत्ति उत्पन्न हो जाए। इसी प्रकार से काम के साथ सौन्दर्य का आकर्षण है, पर जब उसे मन का और नेत्र का सहयोग प्राप्त होता है तो मन में काम की वृत्ति का उदय होता है, पर इन सबकी अपेक्षा जो सबसे कठिन वृत्ति है, वह है लोभ की वृत्ति। काम और क्रोध की अपेक्षा भी लोभ की वृत्ति को जीतना सबसे कठिन है।

समाज में हम लोभ की वृत्ति को सबसे कम बुरा मानते हैं। अगर किसी व्यक्ति के चरित्र में कोई कामजन्य दोष हो, तो बड़ी निन्दा करेंगे, पर यह बात बिल्कुल सही नहीं है। वस्तुतः सत्य तो यह है कि काम और क्रोध तो दोष हैं ही। रामायण में जहाँ पर इन तीनों का वर्णन किया गया है, वहाँ काकभुशुण्डि ने काम और क्रोध के साथ वह शब्द नहीं जोड़ा जो लोभ के साथ जोड़ा है। उत्तरकाण्ड में वे कहते हैं कि–

काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त निज छाती जारा॥७/१२०/३०

उन्होंने कहा कि क्रोध पित्त है, काम वात है तथा अपार लोभ ही कफ है। आपने देखा–'अपार' शब्द न तो क्रोध के साथ जोड़ा गया और न ही 'अपार' शब्द काम के साथ ही जोड़ा गया, बल्कि 'अपार' शब्द जोड़ा तो लोभ के साथ। अगर विचार करके देखें तो बिल्कुल स्पष्ट दिखाई देगा क्योंकि काम कभी अपार हो ही नहीं सकता, कितना भी बड़ा कामी क्यों न हो, पर कितनी देर तक काम में रहेगा। काम की भी सीमा तो रहेगी ही और कितना भी बड़ा क्रोधी क्यों न हो, चौबीसों घण्टे क्रोध भी नहीं कर सकता। क्रोध की भी सीमा होगी। पर यह चमत्कार तो लोभ का ही है कि इसकी कोई सीमा नहीं है। सोते, जागते, उठते, क्रिया करते हुए कभी भी तो पीछा नहीं छोड़ती है वह तो लोभ वृत्ति ही है और लोभ छूटता क्यों नहीं है, उसका भी कारण है। वस्तुतः काम के पीछे कुछ तर्क हैं, क्रोध के पीछे भी कुछ तर्क हैं। काम के पीछे मन है तथा क्रोध के

पीछे अहंकार है, पर लोभ के पीछे तो बुद्धि है न! और जब लोभ के पीछे बुद्धि होगी, जब बुद्धि के द्वारा बुराई को समर्थन मिलेगा, तो बुराई का छूटना सबसे कठिन होगा। इसलिए हम लोगों के जीवन की समस्या यह है कि व्यक्ति जब लोभ का अतिरेक करता है तो बुद्धि से उसका समर्थन करता है कि भई! ठीक है, किन्तु भविष्य की चिन्ता करना तथा भविष्य की सुरक्षा के लिये प्रयत्न करना, यह भी तो हमारा कर्तव्य है और फिर भविष्य को सुरक्षित बनाने की चेष्टा करेगा, उसकी कोई सीमा नहीं होती। रामायण में इसके लिये बड़े सुन्दर सूत्र दिए गये हैं। रामचरित मानस में लंका की समस्या, दण्डकारण्य की समस्या तथा अयोध्या की समस्या और इन तीनों का समाधान प्रस्तुत किया गया है। लंका की समस्या अहंकार की समस्या है। अयोध्या के राजकुमार ने मेरी बहन के नाक, कान काट लिए! रावण के अहं को चोट लगी तथा रावण बदला लेने के लिये प्रस्तुत हो गया और उसकी प्रेरिका शूर्पणखा थी, जो कि उसकी दूसरी दुर्बलता से भी परिचित थी। वह जानती है कि रावण में सौन्दर्य के प्रति आकर्षण है, वासना है। इसलिए श्रीसीताजी के सौन्दर्य का वर्णन करके वह उसे उत्तेजित करती है और रावण का अहंकार प्रबल होता है। इस प्रकार सारे संघर्ष के मूल में रावण का अहंकार तथा उसकी काम वृत्ति है।

गोस्वामीजी कहते हैं कि लंका अहंकार की भूमि है। इसलिए लंका में पहुँचकर जब भगवान् श्रीराम सुबेल शैल पर आसीन हुए, तो तुलसीदास ने प्रभु को प्रणाम किया और कहा—प्रभु तो धन्य हैं। प्रभु ने पूछा, तुलसीदास! अन्यत्र तो तुमने धन्य नहीं बताया। किन्तु यहाँ क्या विशेषता है कि तुम धन्य कह रहे हो? उन्होंने कहा, प्रभु अगर अयोध्या में आपको धन्य कहते तो पहले हम बुद्धि को अयोध्या बनावें और दण्डकारण्यवासी प्रभु को यदि धन्य कहते तो हम मन को दण्डकारण्य बनावें। और यदि यह ध्यान करें कि चित्रकूट में प्रभु आएँ तो पहले चित्त को धन्य बनावें। लेकिन प्रभु! जब मैंने देखा कि आप लंका में भी चले आते हैं, तो मुझे यह अच्छा लगा कि लंका बनानी नहीं है, वह तो बनी बनाई ही है और यहाँ पर भी आपका आगमन हो जाएगा। पर मूल सूत्र वही है कि लंका में अहंप्रधान व्यक्ति रहता है। वाल्मीकि रामायण में रावण कहता है कि

मैं टूट सकता हूँ; लेकिन झुक नहीं सकता। अहंकारी व्यक्ति की प्रकृति यही है। अहंकार ही लंका की समस्या है। दण्डकारण्य की शूर्पणखा के रूप में वासना की समस्या है। दण्डकारण्य मन है—

दंडक बनु प्रभु कीन्ह सुहावन।
जन मन अमित नाम किए पावन॥१/२३/७

और अध्योध्या रूपी बुद्धि में लोभ की समस्या है—

बुद्धिहिं लोभ दिखावहि आई।

अयोध्या में जितना अनर्थ हुआ उसके मूल में लोभ की वृत्ति है। यहाँ पर बुद्धि में लोभ प्रविष्ट हो गया। बुद्धि के द्वारा लोभ का समर्थन होने लगा।

मन्थरा ने कैकेयीजी से कहा कि तुम रामराज्य के समाचार से इतनी प्रसन्न हो रही हो, पर विचार करके देखो कि भविष्य में क्या होगा? और उस समय उसने भविष्य का ऐसा भयावह चित्र खींचा कि कैकेयी की बुद्धि भ्रमित हो गयी और उसके पश्चात् पिता के संस्कार सामने आ गये और जिन श्रीराम को राज्य देने के लिये कह रही थी, मन्थरा की प्रेरणा से उन्हीं को वन भेज दिया। मानो इन सबका अलग-अलग केन्द्र है। बाहर भी और भीतर भी। और इनके समाधान का उपाय एक ही है कि किसी तरह से चित्त में प्रवेश हो। इसलिए कथा मन से भी सुनिए, बुद्धि से भी सुनिए और अहंकार से तो आप सुन नहीं सकते हैं। इसलिए लंका में कथा का कोई उपयोग नहीं हो पाया। यद्यपि हनुमान्जी ने रावण को बहुत बढ़िया कथा सुनाई, पर रावण पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसका अभिप्राय यह है कि अहं में बैठा हुआ व्यक्ति दूसरे की बात सुन नहीं सकता है। गोस्वामीजी ने कहा—कि हनुमान्जी का भाषण सुनकर रावण हँसने लगा—

बोला बिहँसि महा अभिमानी।
मिला हमहि कपि गुर बड़ग्यानी॥५/३२/२

अच्छा, तो अब बन्दर ही मुझे भाषण दे करके, प्रवचन देकर के आकृष्ट करेगा। इस प्रकार अहं की भूमि में कथा का प्रभाव नहीं होता। हाँ, अहं की भूमि में भी अगर कोई सीताजी की तरह सुने और हनुमान् की तरह सुनावे तो बात दूसरी है। सुनाने वाले तो रावण को भी वे ही

थे और श्रीसीताजी को भी वे ही थे, पर अन्तर यही था कि रावण जब सुनता है तो हनुमान्‌जी की शक्ल को देखता है, आकृति को देखता है और हँसता है कि कहाँ से यह बन्दर भाषण देने के लिये आ गया और श्रीसीताजी जैसे सुनती हैं, कथा सुनने की सही पद्धति वही है।

गोस्वामीजी ने कहा कि सुनाने वाले श्रीहनुमान्‌जी अत्यन्त छोटे बन गये और छोटे बन करके अशोकवृक्ष के ऊपर बैठे हुए पत्ते की आड़ में छिप गए—

तरु पल्लव महुँ रहा लुकाई।५/८/१

इसका अभिप्राय है कि सुनाने वाला अहंकार शून्य है। पत्ते की आड़ में छिप जाने का अर्थ है कि वक्ता अपने को आगे दिखाने की चेष्टा कर रहा है कि भगवान् के गुण आगे करने की चेष्टा कर रहा है? अगर वक्ता पूरी कथा में आत्मविज्ञापन ही करता रहे, अपनी ही विशेषताओं का बखान करता रहे, तो वह पत्ते की आड़ में छिपा हुआ नहीं है, अपितु वह तो अपने अहं को प्रदर्शित कर रहा है। इसके पश्चात् जब सुनाने लगे तो—

लागी सुनैं श्रवण मन लाई।५/१२/६

श्रीसीताजी ने कान और मन लगा करके कथा सुनी। कथा को सुना तो उसका परिणाम हुआ कि—

रामचन्द्र गुन बरनै लागा।
सुनतहिं सीता कर दुख भागा॥५/१२/५

तो श्रीसीताजी का दुःख दूर हो गया। इसका अभिप्राय है कि अहंकार की भूमि में बैठा हुआ व्यक्ति सुन करके भी नहीं सुनता है और जब हम मन को लगा देते हैं तब हमारे जीवन के सारे दुःख दूर हो जाते हैं। और शेष ये तो दोनों भूमियाँ हैं—उनमें बुद्धि की भूमि से ईश्वर को निकाल दिया गया है। जब लोभ आ गया तो ईश्वर भी जीवन से दूर चला गया। इसे यों कह लीजिए कि जब आप मन से सुनेंगे तो रस मिलेगा और बुद्धि से सुनेंगे तो शिक्षा मिलेगी और यदि चित्त से सुनेंगे तो कथा जीवन में पूरी तरह से उतर आवेगी। अब प्रश्न यह है कि रामकथा कहाँ बैठ करके सुनें? मन में बैठ करके, कि बुद्धि में, कि चित्त में। भगवान् राम ने तो लक्ष्मणजी से कह दिया कि मन, बुद्धि, चित्त

लगा करके सुनो—

थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई।
सुनहु तात मति मन चित लाई॥३/१४/१

इसका तात्पर्य यह है कि मन से रस लीजिए, बुद्धि से विचार कीजिए तथा चित्त पर विजय प्राप्त कर जीवन में उसको उतारिए। इस तरह से कथा जब मन में, बुद्धि में प्रवेश करेगी, तथा बुद्धि से चित्त में प्रवेश करेगी तब हमारा अन्तःकरण अहंशून्य हो जाएगा। और अहंकार शून्य होने पर रामायण का जो सत्य है वह हमारे जीवन में उतर आवेगा।

तुलसीदासजी ने कहा कि ब्रह्माण्ड में जो चित्रकूट है वह तो धन्य है ही, वहाँ तो अवसर मिलने पर जाना ही चाहिए, पर हम लोगों को चाहिए कि अपने अन्तःकरण में भी चित्रकूट बनावें तथा उसी चित्रकूट में इन तीनों को एकत्र करें। अगर आप यह अनुभव कर रहे हैं कि आपके अन्तःकरण में रामकथा की सरिता बह रही है, तो मानो मन्दाकिनी बह रही है। यदि आपका चित्त स्थिर है तो मानो वही कामदगिरि पर्वत विद्यमान है और सुनते हुए अगर आपके मन में प्रेम उमड़ रहा है तो वही प्रेम का वन है। अगर ये तीनों आ गये तो फिर प्रभु अवश्य ही स्वयं आ करके प्रतिष्ठापित होंगे।

□

॥श्रीरामः शरणं मम॥

तृतीय प्रवचन

भगवान् श्रीराम के चरित्र का वर्णन करने के पहले गोस्वामीजी ने रामकथा के अनगिनत रूपों की ओर संकेत करते हुए यह सूत्र दिया कि–

हरि अनंत हरि कथा अनंता।
कहहिं सुनहि बहु विधि सब सन्ता॥१/१३९/५

जैसे भगवान् अनन्त है उसी प्रकार उनकी कथा भी अनन्त है और सन्तों के द्वारा वह कथा अनेक रूपों में कही जाती है। उसका मूल सूत्र यह है कि इसे हम दो रूपों में देख सकते हैं। और वे दो रूप हैं इतिहास तथा कथा। इन दोनों में अन्तर यह है कि इतिहास में जब किसी घटना का वर्णन किया जाता है, तो सारे इतिहास लेखकों के ग्रन्थों में उस घटना का वर्णन उसी रूप में किया जाता है। इतिहास की भिन्न-भिन्न पुस्तकों में यदि घटनाओं का वर्णन अलग-अलग रूपों में मिले तो यह सन्देह हो जाता है कि इनमें-से कौन-सा इतिहास प्रामाणिक है पर कथा की विशेषता क्या है? इसे दृष्टान्त के रूप में हम यों ले लें कि जैसे भगवान् श्रीराम के चरित्र के सन्दर्भ में जो ग्रन्थ आज प्राप्त हैं अगर उन ग्रन्थों का आप अध्ययन करें तो आपको उनमें परस्पर भिन्नता दिखाई देगी।

श्रीरामचरितमानस तथा वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण और भुशुण्डि रामायण, इस तरह श्रीरामकथा से सम्बन्धित जो अनेकों ग्रन्थ प्राप्त हैं उनमें भिन्नता की प्रतीति होती है। उन्हीं घटनाओं का वर्णन वाल्मीकि रामायण में एक रूप में लिखा गया है कि श्रीरामचरितमानस में उससे भिन्नता है। अध्यात्म रामायण और भुशुण्डि रामायण में भी भिन्नता की प्रतीति होती है। ऐसी स्थिति में जो लोग केवल शुद्ध इतिहास

की दृष्टि से पढ़ते हैं वे कभी-कभी दुविधा में पड़ जाते हैं। यद्यपि उस दृष्टि से भी आप श्रीराम के चरित्र को पढ़ सकते हैं। श्रीराम का चरित्र कोई कल्पना नहीं है, अपितु इतिहास भी है। इसका अभिप्राय है कि श्रीराम का प्राकट्य त्रेतायुग में हुआ तथा उनके द्वारा रामराज्य की स्थापना हुई यह हमारे पुराण तथा इतिहास का सत्य है, पर उसमें जो भिन्नता है, वही इतिहास एवं कथा की भिन्नता का सूत्र है। और उस अन्तर को एक छोटे से दृष्टान्त के माध्यम से समझा जा सकता है।

किसी व्यक्ति की मूर्ति का निर्माण कराने के लिये आप किसी शिल्पकार अथवा मूर्तिकार से यह कहें कि आप अमुक महापुरुष की मूर्ति का निर्माण कर दीजिए और अगर महापुरुष उपस्थित होंगे तब तो वह शिल्पकार उन्हें सामने बिठा करके मूर्ति का निर्माण कर देगा, नहीं तो चित्र में देख करके मूर्ति का निर्माण करेगा। और वह मूर्ति प्रामाणिक तब मानी जाएगी कि जैसा उस व्यक्ति का चित्र होगा उससे वह बिल्कुल मेल खा जाए। अगर मूर्ति बिल्कुल भिन्न हो और सामने उसको देखकर हम बिल्कुल पहचान ही न पाएँ कि यह इसी व्यक्ति की मूर्ति है क्या? तो कोई भी मूर्तिकार की यह कहकर प्रशंसा नहीं करेगा कि वाह, तुमने तो बड़ी अद्भुत मूर्ति बना दी। अपितु तब तो यही कहेगा कि तुम्हारी मूर्ति तो बिल्कुल ठीक नहीं बनी है; क्योंकि व्यक्ति या उसके चित्र से मिलान करने पर उसमें भिन्नता की प्रतीति हो रही है। यहाँ मैं बार-बार आपसे यही अनुरोध करूँगा कि–

सुनहु बात मन मति चित लाई।

आप मन, बुद्धि, चित्त तीनों लगा करके सुनिए।

जब आप श्रीराम की मूर्ति ले आ करके मन्दिर में स्थापित करते हैं तो अगर केवल व्यक्ति के रूप में मूर्ति की प्रामाणिकता पर विचार किया जाय तो, श्रीराम के जितने भी मन्दिर होंगे, उनमें मूर्ति बिल्कुल एक जैसी होनी चाहिए। किन्तु देश में अनगिनत मन्दिर होंगे। पर अगर आप भिन्न-भिन्न राम-मन्दिरों में दर्शन करने जाएँ तो आपको दो मूर्तियों में समता नहीं दिखाई देगी। लेकिन मूर्तियों में जो भिन्नता है उसको देख करके क्या आपको कभी यह सन्देह होता है कि उसमें वास्तविक राम कौन हैं और काल्पनिक कौन हैं? अपितु आप तो मन्दिरों में श्रीराम की

जो मूर्तियाँ हैं उन सबके समक्ष जा करके नमन करते हैं। हाँ, यह अवश्य होता है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के मन में अलग-अलग मन्दिरों के राम के प्रति आकर्षण होता है। किसी व्यक्ति को एक मन्दिर के श्रीराम का दर्शन करके आनन्द की अनुभूति होती है तो किसी को दूसरे मन्दिर में दर्शन करके अधिक आनन्द आता है। और इसका सूत्र क्या है, उस पर भी संक्षेप में दृष्टि डाल ली जाए।

व्यक्ति के साथ तो इतिहास का सूत्र जुड़ा हुआ है पर ईश्वर केवल इतिहास नहीं हो सकता। इतिहास शब्द का अर्थ है—इति-ह-आस—ऐसा हुआ था। इसका अभिप्राय यह हुआ कि इतिहास सर्वदा भूतकाल का शब्द है। एक ओर हम कहते हैं कि यह श्रीराम का इतिहास है और उसके साथ-साथ दूसरी ओर जब यह भी कह देते हैं कि श्रीराम साक्षात् ईश्वर हैं तो इसका सीधा-सा अभिप्राय है कि इस इतिहास और उस इतिहास में अन्तर है और वह अन्तर यह है कि व्यक्ति इतिहास तो भूतकाल का सत्य है पर अगर ईश्वर के विषय में कोई व्यक्ति यह कहे कि ईश्वर था, तो भाई! वह ईश्वर ही नहीं रहा होगा। क्योंकि जो 'था' होता है, वह तो मानव देह धारण करने वाला, नश्वर शरीर वाला ही होता है। वह भूतकाल तक ही सीमित होता है। ईश्वर के सन्दर्भ में तो 'है' शब्द का ही प्रयोग हो सकता है। यही मूल अन्तर है। इसलिए व्यक्ति की मूर्ति बनाने में असुविधा है; क्योंकि व्यक्ति की मूर्ति बिल्कुल मेल खानी चाहिए। पर अगर ईश्वर की मूर्ति बनानी हो तो बड़ी सुविधा है क्योंकि ईश्वर की मूर्ति के सम्बन्ध में यह विवाद तो नहीं रहेगा कि ईश्वर का कौन-सा रूप प्रामाणिक माना जाए। इस सम्बन्ध में बिहारी का वह प्रसिद्ध दोहा मेरी स्मृति में आता है।

कहा जाता है कि एक गाँव में नई बहू के आने से पहले ही उसकी सुन्दरता की ख्याति फैल गयी कि नई बहू तो अत्यन्त सुन्दर है। और जब बहू आई तो उसे देखने के लिये गाँव की सारी स्त्रियाँ उमड़ पड़ीं। वे एक-एक करके उसका घूँघट उठा करके देखती हैं। और जब लौटती हैं तो अन्य स्त्रियाँ बड़ी उत्सुकता से पूछती हैं कि नई बहू कैसी है, पर विचित्रता यह है कि जो स्त्री देख करके आती है वह यही कहती है कि 'नाम बड़े दर्शन छोटे'। सुना बहुत था पर ऐसी कोई विलक्षणता तो नहीं

लगी। ऐसा कोई दिव्य सौन्दर्य तो प्रतीत नहीं हुआ। जब सब स्त्रियों ने यही कहा तो फिर यह प्रश्न किया गया कि या तो नई बहू से गाँव की स्त्रियों को ईर्ष्या हो गयी हो, इसलिए उसकी सुन्दरता को उन्होंने अस्वीकार कर दिया। और फिर यह हो सकता है कि नई बहू सुन्दर ही न रही हो, केवल झूठा समाचार फैल गया हो। और तब बिहारी बड़ी कवित्वपूर्ण पद्धति से कहते हैं कि नहीं भाई! नई बहू सचमुच बहुत सुन्दर थी। और गाँव की स्त्रियों को उससे ईर्ष्या भी नहीं थी पर एक समस्या थी। क्योंकि नई बहू इतनी सुन्दर थी कि उसके जो कपोल थे वे शीशे के समान चमकते थे। इसलिए जो स्त्री घूँघट उठाकर देखती उसके कपोल (गाल) में उसको अपना मुँह दिखाई देता था, बहू का मुँह तो किसी को दिखाई ही नहीं दिया। बड़े व्यंग्य भरे वाक्य में बिहारी कहते हैं—

सबहि गँवारिन गाँव की, गई आपु सम देखि।

तो भाई! बिहारी ने जिस विलक्षण बहू का वर्णन किया है ऐसी बहू तो संसार में कहीं मिलेगी नहीं कि जिसका मुख इतना दर्पण की तरह हो कि उसमें दूसरे को अपनी ही आकृति दिखाई दे, पर यह दोहा ईश्वर के सन्दर्भ में बिल्कुल प्रामाणिक है क्योंकि ईश्वर को देखने के लिये जो आप पहले घूँघट उठाइए और ईश्वर के ऊपर माया का घूँघट पड़ा हुआ है—माया के कारण ही ईश्वर दिखाई नहीं देता और अगर कोई चेष्टा करे कि माया का आवरण दूर करके हम ईश्वर की आकृति को देखें तो समस्या यह है कि माया का आवरण दूर होने के बाद भी हमें अपनी ही भावना की आकृति दिखाई देती है। ईश्वर कैसा है? यह दावा तो करना ही व्यर्थ है। इसके लिये श्रीरामचरितमानस में एक सूत्र दिया गया—

जिन्ह के रही भावना जैसी।
प्रभू मूरति तिन्ह देखी तैसी॥१/२४०/४

अब सुविधा यह हो गयी कि व्यक्ति की मूर्ति तो बराबर मिलनी चाहिए, पर ईश्वर की मूर्ति या चित्र में तो यह आवश्यक नहीं है। क्योंकि ईश्वर का तो कोई प्रामाणिक चित्र अथवा मूर्ति है नहीं, जिससे तुलना करके देखा जाए। परिणाम यह होता है कि एक ही प्रस्तर के माध्यम से प्रत्येक चित्रकार अपनी भावना के द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों को प्रकट करता है और सबसे बड़े महत्त्व का सूत्र यह है कि कलाकार की दृष्टि

के अनुसार ही श्रीराम की मूर्तियों में भिन्नता होने के बाद भी हमारे लिये सारी मूर्तियाँ प्रामाणिक हैं। सभी वन्दनीय हैं और सभी की हम श्रीराम के रूप में, ईश्वर के रूप में पूजा करते हैं—ठीक यही स्थिति श्रीरामकथा की भी है।

कवियों के द्वारा रामकथा की शब्दमयी मूर्ति गढ़ी गई। यद्यपि प्रस्तर में भी मूर्ति गढ़ी जाती है, पर कवि तो मूर्ति गढ़ता है वह आकृति के रूप में न होकर शब्दमय मूर्ति है, वाङ्मय मूर्ति है। और शब्द के द्वारा जब कोई कवि शिल्पकार ईश्वर की मूर्ति का निर्माण करता है, कथा कहता है तो उसमें भिन्नता होनी स्वाभाविक है। यह जो भिन्नता कथा में दिखाई देती है, सामान्य जन इसको सही-सही नहीं समझ पाते और बिना सोचे-समझे निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि वाल्मीकि रामायण (आदि काव्य) में ठीक लिखा है, बाकी सब काल्पनिक हैं। किन्तु नहीं भाई—यह ठीक नहीं है। गोस्वामीजी कहते हैं कि अगर आपको रामायण में भिन्नता दिखाई दे तो संशय नहीं करना चाहिए—

करिअ न संसय अस उर आनी।
सुनिअ कथा सादर रति मानी॥१/३२/८

क्योंकि—

हरि अनंत हरि कथा अनंता।
कहहिं सुनहिं बहुविधि सब सन्ता॥१/१३९/५

अलग-अलग सन्तों ने ईश्वर की शब्दमयी मूर्ति को अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार गढ़ा है। और जितने भी राम हैं उनमें कुछ-न-कुछ भिन्नता के साथ-साथ कुछ एकता भी दिखाई देती है। इसलिए कुछ भिन्नता को देख करके आप इसमें मत उलझिए कि किसने सही लिखा है और किसने गलत लिखा है। बल्कि उसमें से आप चुनाव कर लीजिए कि आपको कौन अधिक आकर्षक लग रहा है। बस मुख्य सूत्र यह है कि आपकी आवश्यकता क्या है? और जिस मूर्ति में आपकी आवश्यकता की पूर्ति हो रही हो उसी को आप स्वीकार कर लें।

कथा के जो अनगिनत रूप हैं यद्यपि वे सभी बड़े दिव्य हैं पर मुख्य प्रश्न यह है कि उन सभी दिव्य रूपों में किस समय आपको किस रूप की आवश्यकता है। हमारे-आपके जीवन में अलग-अलग समय में,

अलग-अलग रूपों की आवश्यकता महसूस होती है। किसी समय देश के सामने कोई ऐसी समस्या आती है कि जिसमें ईश्वर के अनेक सद्गुणों में से भी किसी एक गुण को विशेष महत्त्व दिया जाता है और दिया जाना चाहिए जब युद्ध तथा संघर्ष की बात चल रही हो तब श्रीराम की जो शब्दमयी मूर्ति गढ़ी जाएगी उसमें उनके शौर्य तथा वीरता को प्रस्तुत करना बड़ा स्वाभाविक लगेगा। उस समय तो ऐसी ही कथा की आवश्यकता है कि जिसके द्वारा वीरता का वर्णन सुन करके हमारे अन्तःकरण में वीरता का जागरण हो। ऐसी परिस्थिति में श्रीराम की धनुर्धर मूर्ति भी बन सकती है। वैसे कुछ लोगों ने यह मान लिया है कि राम जब होंगे तो धनुर्धर ही होंगे। किन्तु भाई! ऐसी बात नहीं है।

'रामचरितमानस' में भगवान् श्रीराम का एक रूप धनुर्धारी का है तो दूसरा रूप वह भी है जब वे सीताजी के समक्ष पुष्प वाटिका में लता कुञ्ज से प्रकट हुए—उन श्रीराम के हाथ में न तो धनुष था और न ही बाण था। बल्कि तुलसीदासजी ने लिखा कि जब श्रीराम लता कुञ्ज से प्रकट हो रहे हैं तो—

लता भवन तें प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद पटल बिलगाइ॥१/२३२/०

ऐसा लग रहा है कि मानो चन्द्रमा निकल आया हो। अब बताइए श्रीराम सूर्य हैं कि चन्द्रमा हैं? भगवान् श्रीराम को कहीं सूर्य लिख दिया गया तथा कहीं चन्द्रमा लिख दिया गया। इसका सरल-सा अर्थ यह है कि श्रीराम तो सूर्य भी हैं और चन्द्रमा भी हैं। आपको यदि प्रकाश की आवश्यकता है तो श्रीराम के सूर्यत्व को देखिए और यदि शीतलता की आवश्यकता है तो श्रीराम के चन्द्रत्व को देखिए। यह तो आपकी अपेक्षा पर निर्भर है। अगर आपका अन्तःकरण सन्तप्त है तो आपको सूर्यराम की अपेक्षा नहीं है अपितु तब तो रामचन्द्र की अपेक्षा है और अगर आपके जीवन में अन्धकार छाया हुआ है तो सूर्यराम की अपेक्षा है।

धनुष यज्ञ तथा पुष्प वाटिका में यद्यपि लगता तो यही है कि एक ही राम हैं। पर नहीं, गोस्वामीजी दोनों का अन्तर प्रकट कर देते हैं। जिस समय श्रीराम धनुष तोड़ने के लिये सिंहासन से उठ करके चले तो ऐसा लगा जैसे—

उदित उदयगिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग।
बिकसे सन्त सरोज सब हरषे लोचन भृंग॥१/२५४/०

राम सूर्य का उदय हुआ हो। पर पुष्प वाटिका में सूर्य नहीं है। अपितु गोस्वामीजी लिखते हैं कि–

निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद पटल बिलगाइ।

ऐसा लगा मानो बादलों के बीच से चन्द्रमा निकल आया हो। वे ही श्रीराम पुष्प वाटिका में हैं और वे ही धनुष यज्ञ में हैं पर देखने की दृष्टि में भिन्नता है। सखियाँ जब श्रीराम के सौन्दर्य को देखती हैं तो श्रीसीताजी का ध्यान आकृष्ट करती हुई कहती हैं कि देखो तो–

भाल तिलक श्रमबिंदु सुहाए।
श्रवन सुभग भूषन छवि छाए॥
बिकट भृकुटि कच घूँघरवारे।
नव सरोज लोचन रतनारे॥
चारु चिबुक नासिका कपोला।
हास बिलास लेत मनु मोला॥
मुख छवि कह न जाइ मोंहि पाहीं।
जो बिलोकि बहु काम लजाहीं॥१/२३२/३
उर मनि माल कंबु कल ग्रीवा।
काम कलभ कर भुज बल सींवा॥

इस समय हाथ में धनुष बाण नहीं है अपितु–

सुमन समेत बाम कर दोना।
साँवर कुँअर सखी सुठि लोना॥१/२३२/८

सखि कहती हैं देखिए तो उनके बाएँ हाथ में फूल का दोना है और यह साँवले वर्ण का राजकुमार बड़ा सलोना है। इसका अभिप्राय यह है कि हम कहने लगे कि हमको जो राम प्रिय हैं सबको राम का यही रूप मानना पड़ेगा तो यह एक प्रकार का दुराग्रह है। वस्तुतः श्रीराम तो सूर्य भी हैं, चन्द्रमा भी हैं। प्रकाश भी देने वाले हैं और शीतलता प्रदान करने वाले भी हैं। संहार करने वाले भी हैं और शृंगार करने वाले भी हैं। एक बड़ी अनोखी-सी बात यह है कि वे जिन हाथों के द्वारा धनुष-बाण चलाते हैं उन्हीं हाथों के द्वारा श्रीसीताजी को फूलों के गहनों से सजाते हैं।

अरण्यकाण्ड में गोस्वामीजी कहते भी यही हैं कि–

एक बार चुनि कुसुम सुहाए।
निज कर भूषन राम बनाए॥३/०/१३

भगवान् श्रीराघवेन्द्र ने आभूषणों का निर्माण किया। श्रीराम की दोनों ही छवि हैं। जब वे दुष्टों को दण्ड देने के लिये धनुष-बाण धारण करते हैं तो उनकी यह शौर्यमयी मूर्ति भी हमारे लिये वन्दनीय है और जब सीताजी का शृंगार करने के लिये वे पुष्प के आभूषण बनाते हैं, और पुष्प के उन गहनों से श्रीसीताजी को सजाते हैं, तो यह श्रीराम की सौन्दर्यमयी मूर्ति है, शृंगारमयी मूर्ति है। श्रीराम के अन्तःकरण में स्थित जिस प्रगाढ़ अनुरागमयी मूर्ति का दर्शन गोस्वामीजी करा रहे हैं वह क्या कम मधुर है? परन्तु इस अनुरागमयी मूर्ति को देखकर भी कभी-कभी भ्रम हो जाता है।

वर्णन आता है कि जयन्त ने नारदजी से सुना कि अयोध्या में श्रीराम का अवतार हो गया है और वे आजकल चित्रकूट में रह रहे हैं। उसके मन में भी इच्छा हो गयी कि चल करके चित्रकूट में ईश्वर का दर्शन कर आएँ, और पहुँच भी गए। पर समस्या यह थी कि उसके मन में तो पहले से ही ईश्वर की ऐसी कल्पित मूर्ति थी जिसमें वे दिव्य सिंहासन पर बैठे होंगे। पर जब वह गया तो उसने देखा कि मन्दाकिनी नदी के किनारे स्फटिक शिला के ऊपर श्रीराम पत्ते बिछा रहे हैं, फूल की पंखुड़ियाँ बिखेर रहे हैं। और उसके पश्चात् उसने देखा कि वे रंग घोल करके सीताजी के मुख का शृंगार कर रहे हैं। उनके लिये आभूषण बना रहे हैं। उसे लगा अरे! यही ईश्वर है? क्या ईश्वर आभूषण बना करके इस प्रकार एक सांसारिक शृंगारिक व्यक्ति के समान अपनी प्रिया का शृङ्गार करेगा? नहीं, नहीं, यह सम्भव नहीं। अब प्रश्न है कि ईश्वर की मूर्ति कौन-सी है? जो चरण दबावे, वह ईश्वर है कि जो चरण दबवावे वह ईश्वर है? और जिनके मन में महिमा की वृत्ति है, वे तो यही कहेंगे कि हम ईश्वर के चरण दबाएँगे। यद्यपि यह भी ठीक है पर मैं तो यही कहूँगा कि अगर आप चरण दबाना चाहें तो भी उस ईश्वर के पास जाइए और अगर चरण दबाते हुए ईश्वर को ढूँढ़ना हो तो भी आप रसखान के साथ चले चलिए। रसखान ब्रह्म को खोजने तो चले पर

प्रत्येक स्थान पर असफलता ही हाथ लगी। वे स्वयं उस स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि–

ब्रह्म मैं ढूँढ्यो पुरारन गानन,
वेद, सुन्यो चित चौगुने चायन॥
देख्यौ सुन्यौ न कहूँ कबहूँ,
वह कैसो सरूप औ कैसो सुभायन॥
ढूँढ़ते ढूँढ़त हारि फिर्‌यो,
रसखान बतायो न लोग लुगायन॥

लेकिन आश्चर्य है! मिला कहाँ?

देख्यौ दुर्‌यो वह कुंज कुटीर में,
बैठ्यो पलोटत राधिका पायन॥

अब क्या कीजिएगा–अगर आपको लगे कि चरण दबवाने वाला ईश्वर है और दबाने वाला ईश्वर नहीं है, तो यह आपकी अधूरी कल्पना होगी। तब तो लगता है कि आपने कहीं-न-कहीं अपने मन की ही धारणा को आरोपित कर दिया है। इसलिए गोस्वामीजी ने कहा कि–

सुरपति सुत धरि बायस बेसा।
सठ चाहत रघुपति बल देखा॥
जिमि पिपीलका सागर थाहा।
महा मंदमति पावन चाहा॥३/०/१५

प्रभु जब श्रीसीताजी का शृङ्गार कर रहे थे तो धनुष-बाण वहाँ नहीं था। उसकी अपेक्षा वहाँ नहीं थी। जयन्त को लगा कि इसी समय आक्रमण करना ठीक रहेगा। इनकी प्रिया सीता हैं जिनके प्रति इनका इतना प्रेम है, इसलिए उन्हीं पर प्रहार करके देखें कि ये क्या कर लेते हैं। यह सोचकर जयन्त ने श्रीसीताजी के चरणों में प्रहार किया। और जब श्रीकिशोरीजी के चरणों से रक्त बहने लगा, तो प्रभु की दृष्टि उस पर गई। प्रभु यदि चाहते तो जैसे समुद्र के किनारे लक्ष्मणजी से कहा था कि–

लछिमन बान सरासन आनू।
सोषौं बारिधि बिसिख कृसानू॥५/५७/१

इसी प्रकार पुकार करके कहते कि लक्ष्मण! जरा धनुष-बाण तो

लाना, लेकिन यहाँ प्रभु ने लक्ष्मणजी से धनुष-बाण नहीं मँगाया अपितु तब प्रभु ने–

सींक धनुष सायक संधाना।४/०/८

एक सींक का धनुष बना लिया और एक सींक का बाण बना लिया। परन्तु भई! जिस सींक का धनुष और बाण बना वह कहाँ से आई? वस्तुतः प्रभु ने श्रीसीताजी के लिये फूल के आभूषण गूँथे थे और वहाँ सुई-धागा ले करके गूँथने का तो कोई साधन था नहीं। इसलिए प्रभु ने सारे फूल सींकों में पिरो करके आभूषण बनाए थे। और जिस सींक के द्वारा उन्होंने धनुष-बाण बना दिया। श्रीराम का अभिप्राय था कि जयन्त! मेरे पास तो एक ही वस्तु है वही भक्त के लिये आभूषण बन जाती है और बुरे व्यक्ति के लिये वही कठोर बाण बन जाती है। हमारे लिये उन दोनों में कोई भिन्नता नहीं है। गोस्वामीजी उस स्थिति का वर्णन करते हुए लिखते हैं–

प्रेरित मन्त्र ब्रह्मसर धावा।
चला भाजि बायस भय पावा॥३/१/१

माने सांकेतिक तत्त्व यह है कि श्रीराम के अगणित रूप हैं, अगणित चित्र हैं, और वे सभी रूप तथा चित्र बड़े प्रमाणित हैं। आप अपनी आवश्यकता केवल स्वयं अनुभव कीजिए। दूसरों पर अपनी यह बात आरोपित करने की चेष्टा, लादने की चेष्टा मत कीजिए कि जो हमें मूर्ति प्रिय है, वही दूसरे को भी स्वीकार हो। ऐसा आग्रह तो केवल संघर्ष की ही सृष्टि करेगा। यही कथा की विविधता का अभिप्राय है। इसलिए तुलसीदासजी कहते हैं कि–

हरि अनंत हरि कथा अनंता।
कहहिं सुनहि बहु बिधि सब सन्ता॥१/१३६/५

परन्तु यहाँ जिस दोहे की चर्चा की जा रही है, उसमें कथा की तुलना मन्दाकिनी नदी से की गयी है–

रामकथा मन्दाकिनी चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुबीर बिहारु॥१/३१/०

यद्यपि रामायण में रामकथा की तुलना केवल मन्दाकिनी से ही नहीं अपितु अन्य नदियों से भी की गयी है। एक प्रसंग में कहा गया कि–

पूछेहु रघुपति कथा प्रसंगा।
सकल लोक जग पावनि गंगा॥१/१११/७

श्रीरामकथा तो गंगा है, एक स्थान पर कहा गया कि रामकथा यमुना है–

करम कथा रविनन्दिनी बरनी॥१/१/६

श्रीराम की कथा साक्षात् नर्मदा हैं। और एक प्रसंग में तुलना करते हुए कहा कि–

सिव प्रिय मेकल सैल सुता सी।१/३०/१३

एक प्रसंग में गोस्वामीजी कहते हैं कि श्रीरामकथा सरयू है–

मिली सुकीरति सरजु सुहाई। १/३६/१

इस प्रकार रामकथा गंगा भी है, रामकथा मन्दाकिनी भी है तथा रामकथा सरयू भी है। रामकथा यमुना भी है। और रामकथा नर्मदा भी है। इतना ही नहीं रामचरित मानस में यदि आप वाल्मीकिजी का प्रसंग पढ़ेंगे तो उसमें आपको एक अद्भुत सूत्र मिलेगा।

महर्षि वाल्मीकि से जब भगवान् श्रीराम प्रश्न पूछते हैं कि मैं कहाँ रहूँ, तो उन्होंने प्रभु को रहने के लिये चौदह स्थान बताए। लेकिन वहाँ पर एक बड़ी अनोखी बात आपको मिलेगी जैसे आपसे कोई पूछे, किसी को कुछ देना या लेना हो, तो आप नाम बता दें। और यद्यपि आप अनेक नाम बता सकते हैं पर उनमें तो पहला नाम बताएँगे, उसके प्रति निश्चित रूप से आपकी अधिक महत्त्व बुद्धि होगी। इसी प्रकार महर्षि वाल्मीकि ने प्रभु से कहा कि चौदह स्थान ऐसे हैं जहाँ पर आप रहिए, पर उनमें भी सबसे पहला स्थान उन्होंने रामायण के निर्माता होने के नाते कथा के श्रोताओं को दिया। और यदि विचार करके देखें तो कथावाचक का पक्षपात कथा के प्रति होना स्वाभाविक है। अगर भगवान् मुझसे पूछें तो हम आप लोगों का पक्ष लेकर के यही तो कहेंगे कि सबसे पहले मेरे श्रोताओं पर ही कृपा कीजिए। महर्षि ने भी यही किया। उन्होंने यद्यपि अन्य अंगों के उपयोग की बात भी कही पर प्रारम्भ करते हुए पहला वाक्य यही कहा कि–

जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना।
कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥२/१२७/४

प्रभु जिनके कान समुद्र के समान हैं और आपकी कथा विविध प्रकार की नदियाँ हैं। और जैसे नदी समुद्र में जाकर के समाती है उसी प्रकार से जिनके कान रूपी समुद्र में आपकी विविध कथाओं की नदियाँ समा रही हैं ऐसे मेरे जो प्रिय भक्त श्रोता हैं उनके हृदय में आप निवास कीजिए। पर इसका सूत्र क्या है वह ध्यान देने योग्य है।

कथा के किसी प्रसंग में कर्म की महिमा का वर्णन है, किसी प्रसंग में भक्ति की महिमा का वर्णन है। और इसके साथ-साथ वक्ताओं में भी भिन्नता होती है। आप देखेंगे कि एक वक्ता विशेष रूप से ज्ञान को केन्द्र में रख करके कथा कहता है, तो दूसरा व्यक्ति भक्ति को केन्द्र बना करके कथा कहता है। और तीसरे व्यक्ति की कथा का केन्द्र चरित्र होता है। और नदियों से तुलना करने का अभिप्राय यह है कि जिस नदी का प्राकट्य जिस प्रकार से हुआ, जिस परिस्थिति में हुआ आपको उसी तरह से अपने लिये कथा रूपी नदी का चुनाव करने की सुविधा मिल जाएगी। विचार करके देखें तो अध्यात्म में ऐसा कोई तत्त्व नहीं जो रामकथा में विद्यमान न हो। परन्तु हाँ! यह निर्णय हमें करना है कि इस समय हमें अपने जीवन में किस प्रकार की रामकथा की आवश्यकता है। हमें रामकथा की गंगा चाहिए, कि रामकथा की नर्मदा चाहिए। हमें रामकथा रूपी यमुना की आवश्यकता है, रामकथा की सरस्वती की अथवा रामकथा के सरयू रूप की।

इस सन्दर्भ में एक और बात मैं आपके सामने यह बताना चाहूँगा कि सारे संसार के वक्ताओं में अग्रगण्य अगर कोई है तो वे हैं श्रीहनुमान्जी। इतना ही नहीं श्रीहनुमान्जी से बढ़ करके कोई श्रोता भी नहीं है। इस प्रकार श्रीहनुमान्जी महाराज दोनों में अद्वितीय हैं। पर यदि यह पूछा जाय कि हनुमान्जी किस शैली में कथा सुनाते हैं तो इसका क्या उत्तर होगा? और तब यह कहा जा सकता है कि अन्य वक्ता तो किसी एक विशेष शैली में कथा सुनाते हैं पर श्रीहनुमान्जी के सुनाने की विलक्षणता यह है कि जिस समय जिस शैली की आवश्यकता होती है, वे उस समय उसी शैली में कथा सुना देते हैं। और श्रीहनुमान्जी सारी समस्याओं का समाधान कथा के माध्यम से ढूँढ़ते हैं। इसलिए उनके द्वारा सुनाई गयी कथाओं में आपको भिन्नता मिलेगी।

पहली बार जब हनुमान्‌जी से प्रभु का मिलन हुआ तो प्रभु उन्हें देख करके ही अत्यधिक प्रभावित हुए। उस मिलन में पहले तो हनुमान्‌जी ने प्रभु से पूछा, आप कौन हैं?—

को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा।
छत्री रूप फिरहु बनबीरा॥४/०/१६

और उसके बाद स्वयं बताने लगे कि—

की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ।
नर नारायण की तुम्ह दोउ॥४/०/२२

जब बताने लगे तो प्रभु को लगा कि यह तो अद्भुत वक्ता मिला जो प्रश्न भी कर रहा है और उत्तर भी देता जा रहा है। मुझसे पूछ भी रहे हैं और स्वयं बता भी रहे हैं कि मुझे तो ऐसा लग रहा है कि—

जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार।
की तुम्ह अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार॥४/१/०

उसके पश्चात् प्रभु ने सुनाया, परन्तु अपना चरित्र सुनाया, कथा नहीं सुनाई। और चरित्र का अभिप्राय है कि जिसमें स्थूल परिचय दिया जाए, और प्रभु ने ठीक वही परिचय दिया। वैसे आप किसी को परिचय देंगे, तो किसके पुत्र हैं, किस नगर के रहने वाले हैं, तथा आपके सम्बन्धी कौन हैं? यही परिचय देने की पद्धति है। और प्रभु ने ठीक उसी पद्धति का आश्रय लेकर के कहा—

कोसलेस दसरथ के जाए।
हम पितु बचन मानि बन आए॥४/१/१

अयोध्या के राजा दशरथ का मैं बेटा हूँ। पिताजी की आज्ञा को मान करके मैं बन में आ गया—

नाम राम लछिमन दोऊ भाई।
संग नारि सुकुमारि सुहाई॥४/१/२

मेरा नाम राम है और मेरे भाई का नाम लक्ष्मण है। पर हम दो ही नहीं अपितु तीसरी मेरी पत्नी भी मेरे साथ थीं। किन्तु क्या बताएँ, मेरी पत्नी को किसी राक्षस ने चुरा लिया है—

इहाँ हरी निसिचर बैदेही।
बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही॥४/१/३

ब्राह्मण देवता मैं अपनी पत्नी को चारों ओर खोज रहा हूँ और पूरा परिचय देने के पश्चात् प्रभु ने हनुमान्‌जी की ओर देखकर कहा कि ब्राह्मण देवता—

आपन चरित कहा हम गाई।
कहहु बिप्र निज कथा बुझाई॥४/१/४

मैंने जो चरित्र सुनाया, अब तुम अपनी कथा सुनाओ। यह एक बड़ा विलक्षण वाक्य है। एक ही पंक्ति में दोनों शब्द आए हुए हैं।

भगवान् श्रीराम ने जब यह कहा कि अपना चरित्र मैंने गा दिया, अब आप कथा सुनाइए तो इसका अभिप्राय यह है कि चरित्र में तो उन घटनाओं का वर्णन किया जाएगा, जो घटनाएँ घटित हुई हैं। और जो केवल उन घटनाओं को दुहरा दे वह कथावाचक नहीं है। अपितु कथावाचक उन घटनाओं की जो व्याख्या करता है वह उसकी विशेषता है। इसे यों कह लीजिए कि श्रीराम दशरथ के पुत्र हैं यह तो इतिहास का एक वाक्य है, पर दशरथ के पुत्र क्यों बने, यह कथा का विषय है।

भगवान् श्रीराम समझ गये कि इससे बढ़कर ऐसा प्रभावशाली कथावाचक तो कभी देखने को भी नहीं मिलेगा। इसलिए पूछ दिया, आप कथा सुनाइए। और जब प्रभु ने कहा, ब्राह्मण देवता आप अपनी कथा सुनाइए, तो वर्णन आता है कि सबसे पहले हनुमान्‌जी ने—

प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना।४/१/५

प्रभु के चरणों को पकड़ लिया। प्रभु ने आश्चर्य से हनुमान्‌जी की ओर देखा, अरे! आप मेरे चरणों को क्यों पकड़ रहे हैं? हनुमान्‌जी ने कहा, महाराज! मैंने पहचान लिया आप कौन हैं।

प्रभु ने अपना जो चरित्र बताया था अगर विचार करके देखें तो वह परिचय तो एक मनुष्य ही नहीं अपितु अत्यन्त असमर्थ मनुष्य का ही परिचय हो सकता है। श्रीहनुमान्‌जी ने जब यह पूछा कि क्या आप जग कारण हैं? क्या आप भुवनपति हैं? तो बदले में श्रीराम ने उस प्रकार अपना परिचय देते हुए कह दिया कि—

कोसलेस दसरथ के जाए।
हम पितु बचन मानि बन आए॥४/१/१

मानो प्रभु ने कह दिया कि मैं तो अयोध्या के राजा का बेटा हूँ। इसलिए मैं तो सारे संसार का कारण हो ही नहीं सकता—और भुवनपति

तो दूर रहा, अयोध्यापति बनने वाला था, वह भी नहीं बन पाया। पिताजी ने वन भेज दिया तो वन आना पड़ा। फिर व्यंग्य किया, तुम तो बड़े वेदान्ती लगते हो, पर तुमने कह दिया कि मैं साक्षात् ब्रह्म हूँ, पर जरा यह तो बताओ कि ब्रह्म एक होता है कि दो होता है? और भई! ब्रह्म तो एक ही होता है, दो नहीं होता। किन्तु देख लो यहाँ राम-लक्ष्मण दो हैं। और इतना ही नहीं, ब्रह्म विरागी होता है कि रागी होता है? वैसे मेरा तपस्वी वेष देख करके तुम्हें धोखा हो गया होगा कि ये तो बड़े तपस्वी विरागी सन्त हैं। पर नहीं भई! मैं तो ऐसा रागी हूँ कि वन में आया तो पत्नी को साथ में लेता आया—

संग नारि सुकुमारि सुहाई।४/१/२

बड़ी सुन्दर और सुकुमारी पत्नी मेरे साथ थी। हनुमान्‌जी ने कहा था कि क्या आप पृथ्वी का भार उतारने के लिये आए हुए हैं? तो प्रभु ने कहा, पृथ्वी का भार उतारना तो दूर रहा, पृथ्वी की पुत्री से विवाह हुआ? मैं उनको ही नहीं बचा पाया, तो पृथ्वी का भार कैसे उतारूँगा? मैं भार उतारने वाला नहीं हूँ। बल्कि मैं तो खोज रहा हूँ कि कोई मेरा भार उतारने वाला मिले। इसीलिए आगे चल करके हनुमान्‌जी ने प्रभु को पीठ पर ले लिया। बोले—'महाराज! आप भार उठाने वालों की खोज में थे, तो अब कृपा करके यह भार मेरे ऊपर दे दीजिए।'

प्रभु ने अपना परिचय देते हुए अन्त में कह दिया कि मैं तो पत्नी को खोज रहा हूँ। इस प्रकार मानो प्रभु ने अपना परिचय एक ऐसे साधारण राजकुमार के रूप में दिया—जो असमर्थ है, पत्नी के वियोग में व्याकुल है तथा जिसका राज्य छिन गया है। यह तो श्रीराम का इतिहास हुआ; पर कथा और इतिहास का अन्तर आगे प्रकट हो गया। कथावाचक इतना विलक्षण था कि उसने भगवान् राम के उन्हीं वाक्यों को पकड़ कर उसकी ऐसी व्याख्या कर दी कि जिसकी कल्पना प्रभु के मन में भी नहीं थी।

हनुमान्‌जी ने कहा, प्रभु आपने जो परिचय दिया उससे सिद्ध हो गया कि आप ईश्वर हैं। इसलिए प्रभु! पहली बार जब मैंने आपको ईश्वर कहा था तो दूर से प्रणाम किया था। पर जब आपने अपना चरित्र सुनाया, तो मैंने आपके चरणों को पकड़ लिया। क्योंकि मैं समझ गया कि जिस ईश्वर की खोज मैं कर रहा था, वह तो मन, बुद्धि, वाणी से दूर था।

पर जब आपने यह कहा कि आप दशरथ के बेटे हैं, तो मैं समझ गया कि अब गोद में लेनेवाला ईश्वर उतर आया है। अब इस ईश्वर को पकड़ा भी जा सकता है। और इससे बढ़कर आपकी करुणा क्या होगी कि जगत्-पिता हो करके भी आप पुत्र बन गए। कितनी विलक्षण कथा है! दशरथ के बेटे हैं, इसलिए राजकुमार हैं, यह तो इतिहास है और जगत्-पिता हो करके पुत्र बन गए, उनकी कथा है।

हनुमान्‌जी ने प्रभु से कहा कि आप चल करके सुग्रीव से मित्रता कर लीजिए और साथ ही यह भी कह दिया कि प्रभु! आपने जो अपना परिचय दिया था उसी के आधार पर मैं यह आग्रह कर रहा हूँ। क्योंकि अपना परिचय देते हुए जब आपने कहा कि आप दशरथ के बेटे हैं, लक्ष्मण के भाई हैं तथा श्रीसीताजी के पति हैं; तो मुझे लगा कि ब्रह्म तो किसी का सम्बन्धी बनता नहीं था, पर लगता है यह नया ईश्वर सम्बन्ध जोड़ने के लिये आया हुआ है। तो इतने सम्बन्ध जोड़ लिये हैं, अब केवल दो सम्बन्ध बचे रह गए। आपके भाई भी हैं, पत्नी भी हैं, आपके पिता भी हैं, पर यह दो सम्बन्ध आपने नहीं बताए कि आपका सेवक कौन है और आपका मित्र कौन है, तो चलिए इस कमी को मैं पूरी किए देता हूँ। इसलिए सुग्रीव से कर लीजिएगा मित्रता तो चौथा स्थान जो 'सख्य' का खाली है, वह भर जाएगा। सुग्रीव है आपका 'सेवक' जब आप उन्हें मित्र बना लेंगे तो सेवक का पद खाली हो जाएगा वह आप मुझे दे दीजिएगा। हनुमान्‌जी ने कहा, महाराज! हमें ऐसा नाता जोड़नेवाला ही ईश्वर चाहिए था, जो हमसे सम्बन्ध जोड़ना चाहे, इसलिए आपका परिचय तो बहुत सुन्दर है। आप कितने उदार हैं कि संसार के जीवों से सम्बन्ध जोड़ने के लिये स्वयं ही आए हुए हैं। प्रभु ने कहा कि—

नाम राम लछिमन दोउ भाई।४/१/२

हम दो भाई हैं। हनुमान्‌जी ने कहा, प्रभु! एक का अर्थ एक ही मान लें, तो समस्या है; क्योंकि संसार में तो सर्वत्र भिन्नता ही दिखाई देगी अद्वैत तो कहीं दिखाई ही नहीं देगा। पर मुझे तो लग रहा है कि एक ही अपने दो रूपों में दिखा रहा है। आप जब सर्वशक्तिमान् हैं तो महाराज! एक होते हुए आपने दो वेष बना लिए, दो रूप रंग बना लिए, और दो नाम रख लिए, चलिए अच्छा ही किया।

भगवान् श्रीराघवेन्द्र ने कहा, मेरा नाम राम है। हनुमान्‌जी ने कहा—प्रभु! बड़ी प्रसन्नता हुई। क्योंकि अभी तक तो शास्त्रों में मैंने यही पढ़ा था कि ब्रह्म का नाम नहीं होता—

एक अनीह अरूप अनामा।
अज सच्चिदानन्द पर धामा॥१/१२/३

और प्रभु! जिसका नाम नहीं होता है, उसको कोई डर नहीं होता। और जिसका नाम हो जाय उसे बदनामी का डर रहता है। तो चलिए, पहले ईश्वर को कोई घबराहट नहीं होती होगी, पर जब आपका नाम भी हो गया तो आपको यह ध्यान भी रखना पड़ेगा कि जिससे नाम ठीक-ठीक सिद्ध हो! विनयपत्रिका में तुलसीदास ने भगवान् से कहा—महाराज! मैं आया हुआ हूँ। प्रभु ने पूछा, क्या सुन करके आए हो? उन्होंने कहा—'प्रभु'!

मैं हरि पतित पावन सुने।

'आपका नाम पतितपावन है' ऐसा मैंने सुना है। क्या यह ठीक सुना है? प्रभु ने कहा, भई! जब तुम कह रहे हो, तो होगा। पर तुलसीदासजी ने कहा—नहीं महाराज! मुझे तो आपके इस नाम की सत्यता में सन्देह हो रहा है। क्योंकि पतितपावन का अर्थ है जो पतितों को पवित्र करे, पर आपकी सभा में तो एक भी पतित नहीं है, तो आप काहे के पतितपावन हैं। यहाँ पर जो भरतजी हैं, लक्ष्मणजी हैं, हनुमान्‌जी हैं, शत्रुघ्नजी हैं, शंकरजी हैं, इनमें तो कोई पतित नहीं है, तो फिर पतित पावन कैसे हैं आप? लेकिन प्रभु! कोई चिन्ता मत कीजिए, हम आपका काम पूरा कर सकते हैं। बस, आप मुझे शरण में रख लीजिए। और जब कोई आपसे पूछे कि आप पतितपावन कैसे हैं? तो मेरी ओर दिखला दीजिएगा कि तुलसीदास जैसे पतित को मैंने पावन किया है, इसलिए मैं पतित पावन हूँ—

मैं हरि पतित पावन सुने।
मैं पतित तुम्ह पतित पावन दोउ बानक बने।

भक्त कहते हैं कि ईश्वर का नाम हो जाय तब तो हम नाम के अनुकूल काम करने के लिये बाध्य करेंगे ही। हनुमान्‌जी ने कहा, प्रभु! नाम भी हो गया, रूप भी हो गया। रूप है तो आपको हृदय में धारण करूँगा और नाम है तो आपके नाम का जप करूँगा।

हनुमान्‌जी ने कहा, महाराज! जब आपने यह कहा कि मैं श्रीसीताजी

को ढूँढ़ रहा हूँ, तो मैं गद्‌गद हो गया। मुझे लगा कि सचमुच आप जीव के प्रति कितने कृपालु हैं, कितने करुणामय हैं। क्योंकि जो समर्थ रहे होंगे वे तो आपको खोजते हुए अयोध्या पहुँच गये होंगे, पर मुझ जैसे व्यक्ति, जो आपको खोजने में समर्थ नहीं थे उनको खोजने के लिये आप श्रीसीताजी को खोजने के बहाने स्वयं निकल पड़े। और हम लोगों तक पहुँच गए, हमें तो यही प्रतीत हो रहा है। इस वार्तालाप का सीधा-सा तात्पर्य है कि कथावाचक का कार्य केवल घटनाओं को दोहराना नहीं है, उसका कार्य तो घटनाओं को अर्थ देना है और अर्थ भी ऐसा करना चाहिए कि जिससे लाभ हो। अर्थ चाहे जितने रूपों में लीजिए, पर कहीं अर्थ का अनर्थ करके अकल्याणकारी अर्थ न ले लीजिएगा। ऐसा भी तो कर सकते हैं कि आप कोई मनमाना अर्थ ले लें, तो वह अर्थ का दुरुपयोग है।

भगवान् श्रीराघवेन्द्र भी यह दिव्य शैली देख करके प्रभावित हो गए, और यही कहा कि मैंने तो अपना चरित्र गा दिया, पर मैं समझ गया कि आप तो कथावाचक हैं, कोई साधारण व्यक्ति तो हैं नहीं। इसलिए—

कहऊ बिप्र निज कथा बुझाई।४/१/५

ब्राह्मण देवता! अब आप अपनी कथा सुनाइए और हनुमान्‌जी की फिर पहलेवाली शैली प्रकट हुई। प्रभु पूछ रहे हैं कि तुम्हारा परिचय क्या है? तो हनुमान्‌जी कह सकते हैं कि मैं पवनपुत्र हूँ। अंजना के गर्भ से मेरा जन्म हुआ है और मेरा यह चरित्र है। जैसे प्रभु ने अपना परिचय दिया वैसे ही हनुमान्‌जी भी दे सकते थे। पर कथावाचक की शैली बिल्कुल अलग है। उन्होंने एक ऐसी नई शैली में परिचय दिया कि जिस शैली में संसार में कोई परिचय नहीं देता। हनुमान्‌जी सुनाने लगे कि महाराज! मेरा तो इतना ही परिचय है कि—

एकु मैं मंद मोह बस कुटिल हृदय अज्ञान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान्॥४/२०

प्रभु ने कहा, ब्राह्मण देवता! यह तो परिचय की नई पद्धति का ज्ञान हुआ। अरे! मैंने तो आपसे कथा सुनाने के लिये कहा, पर आप कथा सुना रहे हैं कि व्यथा सुना रहे हैं? हनुमान्‌जी ने कहा—प्रभु! कथा तो राम की होती है, जीव की तो व्यथा ही कथा होती है। पर हम चाहते हैं कि जीव आपकी कथा सुन ले और आप जीव की व्यथा सुन लें। जीव

जब ईश्वर की कथा सुनेगा तो उसके अन्तःकरण में प्रेम का संचार होगा। और ईश्वर जब जीव की व्यथा सुनेगा, तो उसमें करुणा का उदय होगा। इस प्रकार ईश्वर की करुणा और जीव के प्रेम का मिलन हो जाए, बस! यही जीवन में परिपूर्णता का एक मात्र मार्ग है। इस प्रकार ऐसी अद्भुत शैली में श्रीहनुमान्‌जी महाराज ने अपना परिचय दिया।

आगे चल करके हनुमान्‌जी महाराज भगवान् श्रीराम तथा लक्ष्मणजी को पीठ पर लेकर गए। घटना के रूप में कहें तो यही कहेंगे कि श्रीहनुमान्‌जी ने प्रभु और श्रीलक्ष्मणजी को पीठ पर बिठा लिया। पर कथावाचक का काम इतना ही कह देना नहीं है। जब श्रीराम और लक्ष्मणजी का भार श्रीहनुमान् ने उठा लिया तो प्रभु ने हनुमान्‌जी से कहा, चलो अच्छा हुआ, मैं भले ही पृथ्वी का भार उतारने आया था, पर मेरा भार उतारने का कार्य तो तुम्हीं को मिला है। इसलिए अपना और श्रीलक्ष्मण दोनों का भार मैंने तुम्हें दे दिया। पर कथावाचक (हनुमान्‌जी) ने कहा—न-न, सत्य तो यह है कि आपने अपना भार मेरे ऊपर दे दिया और मैंने जानबूझकर इसे ले लिया; क्योंकि इस भार को उठाने में मुझे निश्चिन्तता है। हनुमान्‌जी ने कहा—प्रभु! इस समय मुझे चलना है पहाड़ पर और पहाड़ पर चढ़ते समय व्यक्ति कहीं ऊपर से नीचे न गिर पड़े। प्रभु देख रहे हैं कि मैंने चुनाव कितना उचित किया। पहाड़ पर चढ़ते समय मैंने आपसे कहा कि पीठ पर बैठ जाइए। क्योंकि, मैं यह जानता हूँ कि ऊपर चढ़नेवाले को जितनी चिन्ता होती है, उससे अधिक चिन्ता चढ़नेवाले की पीठ पर जो बैठा हुआ हो, उसकी होती है, क्योंकि वह तो अपने पैर से चल नहीं रहा है। उसको तो यही डर लगता रहता है कि अगर कहीं यह गिर पड़ा तो क्या होगा? हनुमान्‌जी ने कहा, महाराज! मैंने तो यह भार इसलिए लिया है कि जिससे आपको यह चिन्ता बनी रहे कि यदि हनुमान् का पतन होगा, तो चोट आपको ही लगेगी। और सही बात भी है; क्योंकि अगर भक्त का पतन होगा तो ईश्वर की निन्दा होगी, ईश्वर की ही तो आलोचना होगी। इसलिए प्रभु! मैं तो सारे जीवन का भार आपको सौंप करके निश्चिंत हो गया, अब मेरे जीवन में पतन का रंचमात्र भय नहीं रह गया। वस्तुतः कथा का तत्त्व यही है कि घटित होनेवाली घटनाओं से हमें क्या प्रेरणा मिल रही है।

एक ओर सुग्रीव और राम बैठे हुए हैं और दूसरी ओर हनुमान्‌जी तथा लक्ष्मणजी कथा सुना रहे हैं। यहाँ पर लक्ष्मणजी तथा हनुमान्‌जी का अन्तर सामने आ गया—

कीन्हि प्रीति कछु बीच न राखा।
लछिमन राम चरित सब भाषा॥४/४/१

लक्ष्मणजी ने राम का चरित्र सुनाया। यहाँ पर गोस्वामीजी पुनः चरित्र शब्द का प्रयोग करते हैं—पर श्रीहनुमान्‌जी ने कार्य यह किया कि—

तब हनुमंत उभय दिसि की सब कथा सुनाइ।
पावक साखी देइ करि जोरी प्रीति दृढ़ाइ॥४/४/०

यद्यपि उचित तो यह था कि श्रीलक्ष्मणजी ने प्रभु का चरित्र सुनाया, तो हनुमान्‌जी को सुग्रीव का चरित्र सुनाना चाहिए था। पर न, न, कथावाचक की जो भूमिका होती है हनुमान्‌जी ने उसी भूमिका का निर्वाह किया। उन्होंने तो प्रभु की कथा सुग्रीव को सुनाई और सुग्रीव की कथा प्रभु को सुनाई। परन्तु कथा सुनाने का अभिप्राय क्या है? इस समय काहे की आवश्यकता है?

लक्ष्मणजी घटनाओं को सुना गये कि कैसे श्रीराम वन में आए, कैसे सीताजी का हरण हुआ, कैसे हम उन्हें ढूँढ़ रहे हैं। पर श्रीहनुमान्‌जी ने सुग्रीव को कहा कि अरे! यह जो सीताजी का हरण है, राज्य का छिनना है तथा विलम्ब से प्रभु का हम लोगों के पास आना यह कोई संयोग अथवा साधारण घटनामात्र नहीं है। अपितु सत्य तो यह है कि प्रभु ने सोचा होगा कि मित्रता तो बराबरी में होती है और जब तक मैं स्वयं सुग्रीव की तरह न बन जाऊँ तब तक मित्रता कैसे होगी? इसलिए आप जैसे बनकर आए। आपका राज्य छिना हुआ है, तो प्रभु भी राज्य छिनने के बाद आए। आपकी पत्नी का हरण हुआ है, तो प्रभु की पत्नी का भी हरण हो चुका है। यह तो बड़ी सार्थक मित्रता है, बिल्कुल बराबरी की मित्रता है। आपको इस मित्रता से धन्यता का अनुभव करना चाहिए कि प्रभु कितने कृपालु हैं कि आपके मन में हीनता की छाप न पड़कर बराबरी की छाप पड़े; इसलिए इतने महान् होते हुए भी कितने करुणामय हैं, कैसे उदार हैं, कि आप जैसे बन करके ही आपके पास आ गए। और प्रभु से कहा कि—

उत्तमं पात्रमिदं दयायाः।

प्रभु! आपकी दया का पात्र इससे बढ़कर कोई नहीं होगा। आपकी करुणा के लिए, आपकी भक्त-वत्सलता तथा आपके जो गुण कहे जाते हैं उनके लिये भी किसी-न-किसी व्यक्ति की तो अपेक्षा है ही और आपका जो करुणा गुण है वह सुग्रीव के पक्ष में जितना प्रकट होगा उतना अन्य किसी पात्र के साथ में नहीं। आप बालि से मित्रता न करके यदि सुग्रीव से मित्रता करें, तो संसार के समक्ष यह सिद्ध हो जाएगा कि सचमुच आप दीनबन्धु हैं। ऐसी कथा कह करके श्रीहनुमान् प्रभु को प्रेरित करते हैं सुग्रीव को शरण में स्वीकार करने के लिए। पर कभी-कभी कथा का दुरुपयोग होता है और वहाँ पर भी यही हुआ।

भगवान् बड़े उदार हैं इसका लाभ सुग्रीव ने दूसरे ही प्रकार से ले लिया। प्रभु ने बालि को मार कर किष्किन्धा का राज्य देते हुए सुग्रीव से कहा, जा करके राज्य करो; लेकिन—

अंगद सहित करेहु तुम्ह राजू।
सन्तत हृदयँ धरेहु मम काजू॥४/११/६

तुम निरन्तर यह स्मरण रखना कि तुम्हें मेरा काम भी करना है। सीताजी का पता लगाना है। परन्तु सुग्रीवजी ने अपने को भुलावा दे दिया। उन्होंने सोचा कि—हनुमान्जी ने उस दिन कथा में कहा था कि प्रभु तो बड़े उदार हैं, वे दोष तो देखते नहीं। और फिर प्रभु ने यह तो कहा नहीं कि कितने दिनों में सीताजी का पता लगाना है। अतः जल्दी क्या है, फिर लगा लूँगा। और प्रभु को क्रोध तो आता नहीं है, इसलिए ये डर भी नहीं है कि विलम्ब होने पर वे क्रोध करेंगे। और उसका परिणाम यह हुआ कि भगवान् के शील, करुणा की जब कथा सुनी तो उसका दुरुपयोग हो गया।

भगवान् शंकर ने जब पार्वती को भगवान् का स्वभाव सुनाया, तो पार्वतीजी ने कहा—प्रभु! ये कथा तो विचित्र लग रही है, क्योंकि जब आप यह कह देंगे कि भगवान् भक्तों का दोष नहीं देखते तब तो लोगों को यही प्रेरणा मिलेगी, कि खूब दोष करो। तब भगवान् शंकर ने कहा, पार्वती! अगर सचमुच उसने कथा सुनी होगी, तो वह यह नहीं सोचेगा कि चाहे जो दोष करें। उन्होंने कहा, पार्वती! व्यक्ति ने सचमुच कथा सुनी है उसकी कसौटी यही है कि—

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना।
ताहि भजनु तजि भाव न आना॥५/३३/३

जो श्रीराम के शील को देखता है वह सदा-सदा के लिये बिक जाता है। वह सोचता है कि जब ये इतने उदार हैं, इतने शीलवान् हैं, इतने क्षमाशील हैं, तो फिर हमसे कोई अपराध न होने पाए। वस्तुतः उनकी सहृदयता देख करके हमारे मन में अपराध से बचने की प्रेरणा उत्पन्न होनी चाहिए, न कि अपराध करने की। पर व्यक्ति का स्वभाव तो विचित्र है, वह तो कभी-कभी दुरुपयोग भी कर बैठता है। सुग्रीव ने भी ऐसा किया और तब फिर से हनुमान्जी की भूमिका सामने आती है—

इहाँ पवन सुत हृदय बिचारा।
राम काजु सुग्रीवँ बिसारा॥४/१८/१

फिर सुग्रीव के पास पहुँच गये और कहा कि आज आपको मैं कथा सुनाने आया हूँ। सुग्रीवजी ने कहा कि कथा तो आपने पहले दिन ही सुना दी थी। हनुमान्जी ने कहा—महाराज! प्रभु की कथा एक दिन में समाप्त नहीं होती है, यह तो—

हरि अनंत हरि कथा अनंता।१/१३६/५

अनन्त है। अब हरिकथा और भी सुनिये। उस दिन मैंने आपको जो कथा सुनाई थी, वह स्वभाव की कथा थी, परन्तु प्रभाव की कथा बाकी रह गयी थी, इसलिए आज उसे भी सुन लीजिए। और पूछ दिया—क्या आपने ध्यान दिया कि प्रभु ने बालि को जो बाण मारा, वह बाण कहाँ गया? सुग्रीव ने कहा, मैंने देखा था कि बालि के हृदय से निकलकर वापस प्रभु के तर्कस में आ गया। हनुमान् ने कहा, लेकिन प्रभु ने उस बाण को अपने तर्कस में वापस क्यों रख लिया। सुग्रीव ने कहा कि आप तो यह कहते ही हैं कि प्रभु बड़े कोमल स्वभाव के हैं और भक्त को अपने से दूर नहीं जाने देते। बाण उनका भक्त था; इसलिए फिर से उसे अपने तर्कस में बुला लिया। हनुमान्जी ने कहा—हाँ! यह भी एक बात है, पर यही सत्य नहीं है। वस्तुतः मुझे तो लगता है वह बाण उन्होंने आपके लिये ही रख छोड़ा है कि अगर यह भी बालि के समान आचरण करेगा तो इसको भी बालि की तरह मारना पड़ेगा। इसलिए वह आपके लिये ही है। यह तो कथा की बिल्कुल नई शैली थी। इसमें स्वभाव की कोमलता

का वर्णन नहीं था। गोस्वामीजी लिखते हैं कि–

सुन सुग्रीवँ परम भय माना।
बिषयँ मोर हरि लीन्हेउ ग्याना॥४/१८/३

इसका अभिप्राय है कि जैसे रोगी यदि कुपथ्य कर रहा हो, तो उसको उत्साहित करने की नहीं, अपितु डराने की आवश्यकता है और यही श्रीहनुमान्‌जी ने किया। सुग्रीव विषय रोग से ग्रस्त हो गये हैं और हनुमान्‌जी चाहते हैं कि वे कुपथ्य से बचें, जैसे वैद्य रोगी से यह कह देता है कि अगर यह वस्तु खाओगे, तो मृत्यु अवश्य होगी। वस्तुतः उसके डराने का उद्देश्य रोगी को सावधान करना है। इसी प्रकार श्रीहनुमान्‌जी कथा सुनाकर सुग्रीव के अन्तःकरण में भय की सृष्टि करते हैं। भय से उनमें वैराग्य का उदय होता है और वैराग्य से पुनः भगवान् की दिशा में चलते हैं। मानो हनुमान्‌जी के द्वारा कही जानेवाली कथा को आप यदि आदि से अन्त तक देखेंगे, तो उसके अनेक रूप सामने आएँगे। कहीं उसमें स्वभाव की प्रधानता दिखाई देती है तो कहीं प्रभाव की।

श्रीहनुमान्‌जी की कथा धारा तो अजस्र भाव से चलती रहती है। वे जब लंका में भी गये और वहाँ जब विभीषण ने पूछ दिया–

की तुम्ह हरि दासन्ह महँ कोई।
मोरें हृदय प्रीति अति होई॥
की तुम्ह रामु दीन अनुरागी।
आयहु मोहि करन बड़ भागी॥५/५/७

तब भी हनुमान्‌जी ने तुरन्त कथा सुनाई। मानो श्रीहनुमान्‌जी मानते हैं कि सारे रोगों का निवारण एकमात्र कथा में है। इसलिए–

तब हनुमंत कही सब रामकथा निज नाम।
सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिरि गुन ग्राम॥५/६/७

विभीषणजी ने पूछा, आपका परिचय क्या है? और उसके उत्तर में हनुमान्‌जी ने श्रीराम की कथा सुनाई। श्रीराम की कथा सुनाने के पीछे उनका कुछ उद्देश्य था। वे मानो यह संकेत करना चाहते थे कि तुमने ब्रह्मा से वरदान माँगा था कि भगवान् के चरणों में अनुराग हो पर आज कैसे आश्चर्य और दुःख की बात है कि जिन प्रभु की आप मन्दिर में

पूजा करते हैं उनकी प्रिया का हरण रावण ने कर लिया और फिर भी आप लंका में रह रहे हैं। रावण को छोड़ नहीं पा रहे हैं–लगता है भक्ति में कुछ कमी है। वस्तुतः कथा का उद्देश्य विभीषण को जगाना है, चैतन्य करना है। इसलिए वर्णन आया है कि–

मन महुँ तरक करै कपि लागा।
तेही समय बिभीषनु जागा॥५/५/२

हनुमान्‌जी जब आए उसी समय विभीषणजी जग गए। यह मानो जगाने वाली कथा है और उसका उद्देश्य है कि सावधान हो जाओ। और उसके पश्चात् बहुत बढ़िया बात कह दी–

तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता।
देखी चहउँ जानकी माता॥५/७/४

मैं माता जानकीजी के दर्शन करना चाहता हूँ। तात्पर्य यह था कि आपने हरण भले ही न किया हो, पर आप चुप रहे तो यह भी आपका आचरण मर्यादा के विरुद्ध है। जब हरण हुआ तब आपने रावण को नहीं रोका, इतने दिनों से बन्दिनी बनाए हुए है; तो भी आपने रावण को कुछ नहीं कहा। और इन अपराधों का प्रायश्चित्त बस एक ही है, कि सीताजी कहाँ मिलेंगी, अगर आप मुझे यह बता देंगे, तो जब आपके अपराध पर विचार होगा, तो मैं आपके पक्ष में कह दूँगा कि श्रीसीताजी का पता तो उन्होंने ही मुझे बताया था।

इस प्रकार कहीं हनुमान्‌जी जागरण का सन्देश दे रहे हैं, कहीं सावधानी का संकेत कर रहे हैं, कहीं वैराग्य की शिक्षा दे रहे हैं।

भगवान् श्रीराघवेन्द्र जब विमान से लौटने लगे–तो प्रभु की चिन्ता तथा व्याकुलता हो गयी कि कहीं भरत मेरे पहुँचने से पहले ही प्राण का परित्याग न कर दें। तब प्रभु की दृष्टि हनुमान्‌जी की ओर गई। प्रभु को हनुमान्‌जी की कथा शैली का स्मरण हो आया। इसलिए प्रभु ने सोचा कि इस कथावाचक को ही भेजना ठीक है। विचित्र बात है रावण के सामने भी कथा सुना लेते हैं और भरतजी के समक्ष भी कथा सुनाते हैं। रावण के समक्ष क्या दिव्य ज्ञानमयी कथा सुनाई–

सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया।
पाइ जासु बल बिरचति माया॥

जाकें बल बिरंचि हरि ईसा।
पालत सृजत हरत दससीसा॥
जा बल सीस धरत सहसानन।
अंडकोस समेत गिरि कानन॥
धरइ जो बिबिध देह सुरत्राता।
तुम्ह से सठन्ह सिखावनु दाता॥
हर कोदंड कठिन जेहिं भंजा।
तेहि समेत नृप दल मद गंजा॥
खर दूषन त्रिसरा अरु बाली।
बधे सकल अतुलित बलसाली॥५/२०/४

रावण ने कहा, मैंने तुम्हारा परिचय पूछा और तुमने सृष्टि के अनादि काल से प्रारम्भ कर दिया, यह किसका परिचय दे रहे हो। हनुमान्‌जी ने कहा, तुमने यह पूछा कि बन्दर तुमने किसके बल से वाटिका उजाड़ी? इसलिए मैं बता रहा हूँ कि–

जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि॥५/२१/०

यह तो रावण को सुनाने की शैली है और कह दिया रावण! याद रखना कि–

संकर सहस बिष्नु अज तोही।
सकहिं न राखि रामकर द्रोही॥५/२२/८

एक हजार शंकरजी तुम्हारी रक्षा नहीं कर पाएँगे। इस प्रकार हनुमान्‌जी द्वारा रावण को मानो चेतावनी वाली कथा है। अब रावण ने कथा न सुन करके कथावाचक का मुँह देख करके हँसी उड़ाना प्रारम्भ कर दिया कि कथावाचक की शक्ल कैसी है? और कहा–

बोला बिहँसि महा अभिमानी।
मिला हमहि कपि गुर बड़ ग्यानी॥५/२३/२

वस्तुतः रावण कथा के द्वारा इसलिए लाभ नहीं ले पाता, क्योंकि वह अहंकार की भूमि में बैठा हुआ है, जहाँ बैठ करके कथा का लाभ व्यक्ति ले ही नहीं सकता है। श्रीसीताजी ने मन की भूमि में बैठकर कथा सुनी। मन की भूमि में इसलिए क्योंकि, !श्रीसीताजी लंका में दुःखी

हैं और दुःख का अनुभव मन में होता है–

बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही।२/२७४/४

श्रीसीताजी को कथा सुनाते समय श्रीहनुमान्‌जी विवाह की, पुष्पवाटिका की, धनुष-यज्ञ की कथा सुनाने लगे। मानो याद दिलाने लगे कि देखिए तो आपके प्रति प्रभु का कितना प्रगाढ़ अनुराग है? आपसे मिलने के लिये कैसे बिना निमन्त्रण के जनकपुर में आ गए? आपको पाने के लिये कैसे धनुष तोड़ा और वे आपसे कैसा प्रेम करते हैं? उस कथा का मुख्य पक्ष प्रभु का श्रीकिशोरजी के प्रति जो दिव्य अनुराग है उसका वर्णन करता है।

आगे चल करके माँ ने उलाहना दे दिया, हनुमान्! पहले तो हमारे प्रभु बड़े कोमल चित्त के थे। हनुमान् ने कहा–माँ! ऐसा आप क्यों कहती हैं? अरे! थे ही नहीं, हैं अभी। माँ ने कहा मेरे पास प्रमाण है–

कोमलचित कृपाल रघुराई।
कपि केहि हेतु धरी निठुराई॥५/१३/४

लगता है अब प्रभु बदल गये हैं, कठोर हो गये हैं। क्योंकि अगर कोई कोमल चित्त वाला हो पर असमर्थ हो, तो रो करके अपनी कोमलता प्रकट कर लेता है, किन्तु बेचारा कुछ नहीं कर पाता। पर अगर किसी में कोमलता भी हो और सामर्थ्य भी हो तब तो न ले जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। और हमारे प्रभु में तो दोनों बातें हैं, वे चाहते तो मुझे लंका से छुड़ाकर ले जा सकते थे, इतने शक्तिशाली भी हैं। पर फिर भी मुझे छुड़ाकर नहीं ले गये तब तो यही मानना पड़ेगा कि प्रभु निश्चित रूप से कठोर हैं। और श्रीसीताजी के मुख से हनुमान्‌जी ने यह वाक्य सुना बस अब तुरन्त कथावाचक की भूमिका बदल गई। हनुमान् ने कहा माँ–

जनि जननी मानहु जियँ ऊना।
तुम्ह से प्रेमु राम के दूना॥५/१३/१०

आप जितना प्रेम उनसे करती हैं, वे आपसे दूना प्रेम करते हैं। और जब कथा सुनाई तो उसका उद्देश्य भी यही बताना था कि सचमुच प्रभु आपसे इतना प्रेम करते हैं कि आपकी अपेक्षा भी उनका प्रेम आपके प्रति अधिक है। और सचमुच कथावाचक ने ऐसा बढ़िया समाधान दे दिया कि श्रीसीताजी गद्‌गद हो गयीं।

माँ ने पूछ दिया, अगर समर्थ हैं, तो इस समय कोमल नहीं हैं और

यदि कोमल हैं तो समर्थ नहीं हैं। यदि समर्थ हैं और मुझे भुला दिया तब तो सीधा-सा तात्पर्य है कि कठोर हो गए। हनुमान्‌जी ने कहा—नहीं, समर्थ भी हैं और कोमल भी हैं। तो फिर मुझे छुड़ाकर क्यों नहीं ले जाते? हनुमान् ने कहा—माँ! आप तो उनके बहुत-से गुणों का स्मरण कर रही हैं, लेकिन मैंने प्रभु के पास देखा कि वे प्रतिक्षण केवल आपका स्मरण कर रहे हैं। और प्रभु आपके स्मरण में इतने डूब गये हैं कि उन्हें अपने बल के स्मरण करने का भी अवसर नहीं मिलता है। इसलिए रावण को जो मार नहीं पा रहे हैं उसका भी कारण आपका प्रेम ही है। वे आपसे इतना प्रेम करते हैं कि—

तब वियोग संभव दारुण दुख
बिसरि गई महिमा स्वबाण की।

आपके वियोग में वे अपने बाण की महिमा को भी भूल गए। वस्तुतः यह तो भक्त कथावाचक ही सुना सकता था। और माँ इतनी अधिक प्रभावित हुईं हनुमान्‌जी की कथा से, कि जब वे लौटने लगे तो श्रीसीताजी ने कहा कि पहले तो मैं तुमसे यह कहने वाली थी कि अगर प्रभु मुझे भूल गये हों तो उन्हें मेरी याद दिलाना, पर तुमने तो मेरे सामने बड़ी समस्या उत्पन्न कर दी। तुमने तो कह दिया कि मेरी याद में इतने डूबे हुए हैं कि अपने बाण को भी भूल गये हैं। इसलिए अब मेरी याद दिलाने वाली कथा न सुनाना। अपितु ऐसी कथा सुनाना कि जिससे—

तात सक्रसुत कथा सुनाएहु।
बान प्रताप प्रभुहि समुझाएहु॥५/२६/५

अब जरा उनके बाण की याद दिला दीजिएगा, जिससे मेरा उद्धार करके ले चलें। इसका तात्पर्य है कि जहाँ जैसी आवश्यकता होती है, हनुमान्‌जी वैसी ही कथा सुनाते हैं। यद्यपि माँ ने यह कहा था कि जयन्त की कथा सुनाकर प्रभु को बाण के प्रभाव की याद दिलाना। पर आप देखेंगे कि पूरे प्रसंग में उन्होंने कहीं भी जयन्त का नाम भी नहीं लिया। वह प्रसंग ही नहीं सुनाया। सचमुच कितनी सावधानी है। श्रीहनुमान्‌जी को लगा कि मैं जयन्त की कथा सुनाऊँ और प्रभु को अपने बाण के सामर्थ्य की याद आ जाय और जैसे जयन्त के पीछे उन्होंने बाण लगा

दिया पर स्वयं बैठे रहे, कहीं ऐसा न हो कि यहाँ बैठे-बैठे ही ये रावण पर बाण चला दें और मार दें—तो रावण तो मर जाएगा, परन्तु रामायण का निर्माण कैसे होगा? और साथ-साथ श्रीसीताजी को लेने के लिये प्रभु जब स्वयं जाएँगे उसमें जितनी महिमा है वह इसमें नहीं है। यहाँ बैठे-बैठे बाण चला करके प्राण की रक्षा कर दें—वह प्रेम के अनुकूल नहीं है; इसलिए चर्चा करना ठीक नहीं है।

लंका से वापस लौटने पर प्रभु ने जब पूछ दिया कि हनुमान्! तुम यह तो बताओ कि सीता कैसी हैं, तो क्या सुन्दर कथा हनुमान्‌जी सुनाते हैं। तुलसीदासजी ने कहा कि श्रीहनुमान्‌जी ने उस समय ऐसी कथा सुनाई कि प्रभु के नेत्रों में आँसू आ गए। हनुमान्‌जी ने कहा कि—

सीता कै अति बिपति बिसाला।
बिनहिं कहे भलि दीनदयाला॥
निमिष निमिष करुणानिधि जाहिं कलम सम बीति।
बेगि चलिअ प्रभु आनिअ भुज बल खल दल जीति॥५/३१/०

और कथा का परिणाम यह हुआ कि—

सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना।
भरि आए जल राजिव नयना॥

अद्भुत कथावाचक हैं—जब लंका में गये थे तो सीताजी की आँखों में आँसू थे और विरह की ज्वाला थी। और जब श्रीहनुमान्‌जी लौटने लगे तो दोनों लेकर के चले। अभिप्राय था कि माँ का विरह देख लिया तथा आँसू भी देख लिए। और अब दोनों का उपयोग करना चाहिए। विरह की तुलना अग्नि से की गयी है। इसलिए उन्होंने लंका में आग लगा करके मानो कहा कि यह तो श्रीसीताजी की विरहाग्नि से लंका जली है। पर आँसू को साथ में ले आए और उन्हें प्रभु की आँखों में पैठा दिया। जिससे कि माँ की आँखों के आँसू मिट जाएँ। और व्याकुल होकर बोले प्रभु! बेगि चलिय—विलम्ब मत कीजिए—

आनिय भुज बल खल दल जीति।

आप चलिए, यात्रा कीजिए और स्वयं अपनी भुजा के द्वारा रावण का वध करके उनको लेकर के आइए। उस समय प्रभु अत्यन्त व्याकुल हो गये और तुरन्त सुग्रीवजी की ओर देखकर कह दिया—

अब बिलम्बु केहि कारन कीजे।
तुरत कपिन्ह कहुँ आयसु दीजे॥५/३३/७

प्रभु के हृदय में इतनी व्याकुलता, इतने दुःख की अनुभूति हुई कि श्रीसीताजी को लंका से छुड़ाने के लिये तुरन्त सेना लेकर चल पड़े।

यहाँ भरतजी जब विरह में व्याकुल हो रहे हैं, तो भरतजी की व्याकुलता को समझ करके प्रभु को चिन्ता है कहीं प्राण न छोड़ दें। और तब हनुमान्‌जी को आदेश दिया कि तुम ब्राह्मण का वेश धारण करके जाओ और जा करके मेरा सन्देश पहुँचाओ—लेकिन क्या सन्देश कोई और नहीं पहुँचा सकता था? सूखा सन्देश पहुँचाने वाला तो कोई और भी हो सकता था, पर श्रीहनुमान्‌जी कैसे विलक्षण सन्देश पहुँचाने वाले हैं। उनकी शैली तो आप देखिए! जा करके यह भी सन्देश दे सकते थे कि प्रभु आ गए। पर उस समय जब श्रीहनुमान्‌जी ने श्रीभरत को देखा, तो दिखाई पड़ा कि—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥७/१/०

और तुरन्त सुनाने लगे। प्रारम्भ कहाँ से किया? यहाँ से नहीं किया कि प्रभु आ गए। अपितु प्रारम्भ वहीं से किया—

जासु बिरहुँ सोचहु दिन राती।
रटहु निरन्तर गुन गन पाँती॥
रघुकुल तिलक सुजन सुखदाता।
आयउ कुसल देव मुनि त्राता॥७/१/३

और लगा कि मैंने तो केवल प्रभु के आने का वर्णन किया है, श्रीसीताजी और लक्ष्मणजी का नाम नहीं लिया है; कहीं बुरा प्रभाव न पड़े इसलिए तुरन्त जोड़ दिया—

रिपुरन जीति सुजस सुर गावत।
सीता सहित अनुज प्रभु आवत॥७/१/५

प्रभु आ रहे हैं श्रीसीताजी और लक्ष्मणजी के साथ। ऐसी बढ़िया कथा सुनाई कि जिसे सुनकर—

सुनत बचन बिसरे सब दूखा।
तृषावंत जिमि पाइ पियूषा॥

को तुम्ह तात कहाँ ते आए।
मोहि परम प्रिय बचन सुनाए॥७/१/६

श्रीहनुमान्‌जी की कथा सुनकर भरतजी ने कह दिया कि मेरे मन में रंचमात्र कोई दुःख बाकी नहीं है। हनुमान्‌जी ने कहा—नहीं-नहीं, जब तक प्रभु नहीं मिलेंगे, तब तक आपका पूरा दुःख तो नहीं मिटेगा। हाँ! कथा सुन करके दुःख कम हुआ होगा। उन्होंने कहा—न-न—

कपि तव दरस सकल दुख बीते।
मिले आजु मोहि राम पिरीते॥७/१/११

मुझे तो आज तुमसे कथा सुन करके और भी आनन्द आ गया। अब अगर आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मेरी प्रार्थना स्वीकार कीजिए और प्रार्थना यह है कि—

अब प्रभु चरित सुनावहुँ मोहिं।७/१/१४

जरा फिर से एक बार कथा सुनाइए। फिर से सुना गये तब भी सन्तोष नहीं है। कहने लगे आपने कथा जो सुनाई उसमें मैं याद करता हूँ, ये तो आपने कहा, पर क्या उनको भी कभी मेरी याद आती है और याद भी भाई के रूप में नहीं, बल्कि—

जिन दास ज्यों रघुबंस भूषन कबहुँ मम सुमिरन कर्‌यो।

क्या प्रभु आपसे बातचीत करते समय कभी यह भी कहते हैं कि भरत मेरा एक छोटा दास है? श्रीभरत बार-बार, ये नए-नए प्रश्न क्यों कर रहे हैं? उसका कारण यह है कि श्रीभरत जानते हैं कि जितनी बार सुनावेंगे उतनी बार एक नए रस की सृष्टि कर देंगे। और फिर तो दिनचर्या ही ये हो गई; श्रीभरतजी को प्रभु से अधिक प्रभु की कथा प्रिय हो गई। प्रभु की सेवा की अपेक्षा भी प्रभु की कथा अधिक प्रिय लगने लगी।

राज्याभिषेक के पश्चात् प्रभु विश्राम करते हैं, तब श्रीलक्ष्मण तो सेवा में ही रहते हैं। पर श्रीभरतजी तथा शत्रुघ्नजी क्या करते हैं—

भरत सत्रुघ्न दूनउ भाई
सहित पवनसुत उपबन जाई॥७/२५/४

श्रीहनुमान्‌जी से कहते, जरा वाटिका में चलिए और वहाँ जाकर कहते हैं, जरा वह कथा फिर से तो सुनाइए और जब सुनाते हैं तो परिणाम यह होता है कि—

सुनत बिमल गुन अति सुख पावहिं।
बहुरि-बहुरि करि बिनय कहावहिं॥७/२५/६

बार-बार कहते हैं कि जरा फिर एक बार सुनाइए। क्योंकि जानते हैं श्रीहनुमान्‌जी हर बार उसमें एक नया रस ला देंगे। इसलिए बार-बार प्रार्थना करते हैं और 'बार-बार' श्रीहनुमान्‌जी महाराज कहते हैं। मानो प्रभु के गुण अनन्त, प्रभु की महिमा अनन्त है। और कथावाचक की भूमिका यही है कि हमारे अन्तःकरण में जिस समय भगवान् के जिस गुण की, चरित्र की, लीला की अपेक्षा हो, अपनी कथा के माध्यम से वह उसको प्रकट कर दे।

रामकथा की तुलना विभिन्न नदियों से की गयी है। जब कहा गया कि श्रीराम की कथा नर्मदा, सरयू, मन्दाकिनी, यमुना, सरस्वती है तो उन कथाओं में भिन्नता अवश्य ही है और इस भिन्नता का तात्त्विक अभिप्राय यह है कि जब हम गंगा के रूप में श्रीराम की कथा को सुनें तो उस कथा का क्या प्रभाव पड़ेगा? यह बड़े महत्त्व का सूत्र है।

इस नदियों का भूगोल के रूप में जो परिचय प्राप्त होता है अगर उनमें स्नान करना चाहें तो सारे देश की यात्रा करें, तब उसमें स्नान हो, पर यदि आप कथा में आकर बैठ जाएँ तो कभी गंगा में गोता लगाइए, कभी मन्दाकिनी में, कभी यमुना और कभी सरस्वती में। कभी कर्म की प्रेरणा प्राप्त होगी, कभी भक्ति की, कभी पुरुषार्थ की और कभी हमें मर्यादा की प्रेरणा मिलेगी। वस्तुतः यह रामकथा अनेक रूपों वाली है, पर इस दोहे में तुलसीदास का सबसे प्रिय रूप है। गोस्वामीजी कहते हैं कि मुझे ये सबसे प्रिय लगती है—क्योंकि चित्रकूट में प्रेम की परिपूर्णता है—चित्रकूट माने जहाँ प्रेमरस की पराकाष्ठा है। अयोध्या की कथा का तात्पर्य है मर्यादा की पराकाष्ठा। पर कितना विलक्षण प्रेम प्रभु में भरा हुआ है, अगर हम उसे सुनना चाहें तो वह तो मन्दाकिनी की धारा ही हो सकती है।

□

॥श्रीरामः शरणं मम॥

चतुर्थ प्रवचन

श्रीरामचरितमानस के प्रारम्भ में रामकथा के अगणित रूपों की चर्चा की गयी है। कहीं रामकथा को सद्‌गुरु के रूप में प्रस्तुत किया गया है, कहीं गंगा के रूप में और कहीं यमुना के रूप में। और इसके पीछे मानो संकेत यह किया गया कि रामकथा के ये जो भिन्न-भिन्न रूप हैं इन सबकी आवश्यकता विभिन्न व्यक्तियों के जीवन में है। रामकथा के जिस रूप के द्वारा हमारे जीवन तथा हमारे मन की समस्याओं का समाधान मिल सके, हम कथा के उस रूप का आस्वादन करें।

महर्षि वाल्मीकि ने कहा कि जिनके कान समुद्र की तरह हैं तथा आपकी जो कथाएँ हैं वे भिन्न-भिन्न नदियों के रूप में हैं। और जैसे नदियाँ निरन्तर समुद्र की ओर बहती जा रही हैं पर समुद्र कभी यह नहीं कहता कि अब जल की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार से जिस श्रोता का हृदय और कान ऐसे बने हुए हैं कि अनगिनत रूपों में श्रीराम की कथा सुनने के बाद भी उसको तृप्ति नहीं होती है, निरन्तर उसे सुनने की व्यग्रता बनी रहती है। प्रभु! आप ऐसे भक्तों के हृदय में निवास करें। और इस बार जो प्रसंग चुना गया है, रामकथा को मन्दाकिनी बताया गया है। मन्दाकिनी का जो परिचय श्रीरामचरितमानस में दिया गया है वह बड़ा सांकेतिक है। भगवान् श्रीराघवेन्द्र अयोध्या से निष्कासित कर दिए गये हैं। जिनकी बुद्धि मन्थरा के वशीभूत हो चुकी है। उन कैकेयी ने श्रीराम को वन भेज दिया है।

ईश्वर का पास आना और ईश्वर का दूर जाना ठीक उस प्रकार का नहीं है जिस प्रकार से व्यक्ति का पास आना या दूर जाना होता है।

तात्त्विक दृष्टि से यदि विचार करके देखें तो ईश्वर न तो कहीं आता है और न कहीं जाता है। आना-जाना उसमें इसलिए नहीं है; क्योंकि व्यक्ति बेचारा तो एक स्थान में होता है और जब वह वहाँ से दूसरे स्थान में जाता है तो उसे जाना कहते हैं और अगर व्यक्ति कहीं अन्यत्र से आता है तो उसे आना कहते हैं। पर ईश्वर तो सर्वव्यापी है, न उसे कहीं आना है न कहीं जाना है, किन्तु हम लोगों के जीवन में यह समस्या है कि कभी तो ऐसा लगता है कि जैसे ईश्वर हमारे निकट आ गया और कभी ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर हमसे दूर हो गया। और इसका अभिप्राय है कि इस सामीप्य तथा दूरी का अनुभव कब होता है? इस सन्दर्भ में गोस्वामीजी तथा अन्य भक्तों ने यह सूत्र दिया कि–

जहाँ राम तहँ काम नहि, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहुँ न रहि सके, रवि रजनी एक ठाँव॥

जब हमारे अन्तर्जीवन में काम आ जाता है, क्रोध और लोभ की वृत्ति आ जाती है, अभिमान की वृत्ति आ जाती है, तो स्वभावतः ईश्वर सर्वव्यापक होते हुए भी उस समय हमारी दृष्टि से ओझल हो जाता है, वह हमें दिखाई नहीं देता। और जिस समय हमारे अन्तःकरण में भगवद्भक्ति तथा प्रीति का उदय होता है, सद्भावनाओं का उदय होता है, उस समय ईश्वर हमें अपने अन्तर्जीवन के अत्यन्त समीप दिखाई देता है।

चित्रकूट में प्रभु कब गए? जब अयोध्या में दोषों का उदय हुआ। महाराज श्रीदशरथ तथा कैकेयी के जीवन में भी कुसंग के प्रभाव से कुछ परिवर्तन दिखाई पड़ा। मानो ईश्वर को दूर करने में सबसे बड़ा कारण है कुसंग। और ईश्वर के सामीप्य का अनुभव करने के लिये सबसे बड़ा साधन है सत्संग। इसलिए कैकेयीजी तथा मन्थरा के संवाद को गोस्वामीजी ने यही कहकर समाप्त किया कि देखो तो–

को न कुसंगति पाइ नसाई।
रहइ न नीच मते चतुराई॥२/३८/८

जिन कैकेयी का निवास-स्थान अयोध्या जैसी पवित्र नगरी है, जो महाराज श्रीदशरथ की पत्नी हैं, जिनमें अनेक सद्गुण विद्यमान हैं, उन पर भी कुसंग का इतना भयानक प्रभाव पड़ गया। सन्तों की नगरी अयोध्या में एकमात्र असन्त थी मन्थरा और उस असन्त मन्थरा को

देखकर यह लगना स्वाभाविक ही था कि जहाँ पर लाखों व्यक्ति अच्छे हों वहाँ पर एक बुरा व्यक्ति क्या कर लेगा? पर आप गहराई से विचार करके देखिए रोग की स्थिति भी तो यही होती है। रामायण में एक वाक्य कहा गया है–

रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिअ न छोट करि।
अस कहि बिधि बिलाप करि लागी रोदन करन॥३/२१/०

अग्नि, रोग, पाप, शत्रु तथा सर्प इन सबको छोटा समझकर छोड़ नहीं देना चाहिए। व्यवहार में भी जैसे दिखाई देता है कि रोग का श्रीगणेश कितने नन्हें-से रूप में होता है पर किस तरह से एक अंग में उत्पन्न होने वाला रोग सारे शरीर पर अधिकार कर लेता है। इसी प्रकार से यह सोचकर निश्चिन्त नहीं हो जाना चाहिए कि आधा दुर्गुण बना रहे तो कोई चिन्ता की बात नहीं है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है एकमात्र मन्थरा।

अयोध्या में मानसिक रोगों का पूरी तरह से प्रचार और प्रसार का अभाव था, पर मन्थरा महारानी कैकेयी को प्रेरित करती है कि वे महाराज श्रीदशरथ से अनुरोध करके श्रीराम को वन भेज दें। यद्यपि महाराज श्रीदशरथ में लोभ तथा क्रोध की वृत्ति तो नहीं है, पर काम की दुर्बलता उनके जीवन में भी है। उनके जीवन से राम कब दूर हुए? जब वे कैकेयी के कोप भवन में पहुँचे और पहुँच करके उन्होंने कैकेयी को मनाने के लिये यह कहा कि–

जानिस मोर सुभाउ बरोरू।
मनु तव आनन चंद चकोरू॥२/२५/४

हे सुन्दरी कैकेयी! यह तो तुम अच्छी तरह से जानती हो कि तुम्हारा मुख चन्द्रमा है और मेरा मन चकोर है। यद्यपि दशरथजी पहले भी चकोर थे और अब भी चकोर हैं–पर इस चकोर की दृष्टि पहले जिस चन्द्रमा की ओर थी, वह चन्द्रमा कौन था? गोस्वामीजी ने कहा कि जब महाराज मनु के सामने भगवान् श्रीराघवेन्द्र प्रकट हुए उस समय श्रीराम के मुख का वर्णन करते हुए लिखा कि–

सरद मयंक बदन छबि सींवा।
चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा॥

भगवान् श्रीराम का मुख शरद ऋतु का चन्द्रमा है और महाराज मनु

की दृष्टि चकोर की भाँति इस चन्द्रमा को निहार रही है। वस्तुतः जब तक वे श्रीरामचन्द्र के चकोर थे तब तक राम उनके पास थे और जब रामचन्द्र के साथ वे कामचन्द्र के भी चकोर बन गये तो प्रभु ने कहा, अब दूसरा चन्द्रमा मिल गया है, इसलिए अब हमारी आवश्यकता नहीं रह गई। इसका अभिप्राय है हमारे अन्तःकरण में दुर्वृत्तियाँ हैं (चाहे कुसंग के कारण उत्पन्न हुई हों) वे हमारी दृष्टि श्रीराम की ओर से हटा करके सांसारिक वस्तुओं की ओर ले जाती हैं, यही जीवन से राम को दूर बना देना है और भगवान् श्रीराघवेन्द्र दूर हो जाते हैं, यह वन बड़ा सांकेतिक शब्द है।

वन को गोस्वामीजी ने तीन रूपों में प्रस्तुत किया है। एक तो उन्होंने कहा कि 'मोह का वन' है।

मोह बिपिन कहुँ नारि बसन्ता।३/४३/१

और लंका काण्ड में वे कहते हैं कि 'संशय ही वन' है–

संशय बिपिन अनल सुर रंजन।६/११४/२

और यह जो दोहा आपके सामने रखा गया इसमें वन के रूप में प्रेम का वरण किया गया है–

रामकथा मन्दाकिनी चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुबीर बिहारु॥१/३१/०

नगर में तो मार्ग बने हुए हैं, पर जहाँ सघन वन हैं वहाँ पर व्यक्ति मार्ग ढूँढ़ने में अक्षम हो जाता है, असमर्थ हो जाता है। उसे समझ में नहीं आता कि मैं किधर से जा रहा हूँ। इसी प्रकार से हमारे-आपके जीवन में भी जब कभी 'संशय' की स्थिति आ जाती है, तो यह निर्णय करना बड़ा कठिन होता है कि हमें किस दिशा में चलना चाहिए। अथवा जब व्यक्ति के अन्तःकरण में 'मोह' का उदय होता है और मोह के उदय का अभिप्राय है कि जान करके भी बार-बार वह भूल दोहराने की वृत्ति। जिस भूल को हम हजार बार अनुभव कर चुके हैं, उसके बाद तर्क यही कहता है कि भाई! इतनी बार भूल का अनुभव करने पर तो व्यक्ति को उसे छोड़ देना चाहिए, पर आचरण इससे ठीक विपरीत होता है। बार-बार वही भूलें होती हैं, बस उसी का नाम मोह है। उसके लिये गोस्वामीजी ने दोहावली रामायण में अत्यन्त सुन्दर उदाहरण दिया है।

बसन्त ऋतु में, सेमर के वृक्ष में सुन्दर-सुन्दर लाल रंग के पुष्प खिले हुए हैं और तोता जब उन लाल रंग के पुष्पों को देखता है तो रंग देखकर मोहित होता है और समझता है कि इस वृक्ष में तो बड़े सुन्दर फल लगे हुए हैं और फल के लोभ से वह पुष्प पर आकर प्रहार करता है, चोंच चलाता है। किन्तु सेमर के वृक्ष में तो रुई होती है उसमें कोई रस है ही नहीं। लेकिन अनुभव कर लेने के बाद भी फिर वही भूल दोहराता है। वह कल्पना करता है कि एक बार फिर चोंच चलाने के बाद रस नहीं मिला; किन्तु दो घण्टे बाद फिर से उसमें रस आ जाएगा। और वह दिन भर उसी प्रकार की भूल बार-बार दोहराता रहता है। पर इससे भी बड़ी विडम्बना यह है कि तोतों के झुण्ड ने दो महीने तक यही अनुभव किया कि जब सेमर के पुष्पों पर चोंच चलाई गयी तो उसमें से रुई ही सामने आई, रस नहीं मिला, लेकिन जब दूसरा बसन्त आया और फिर से वृक्ष में फूल आए तो वही तोतों के झुण्ड पुनः उन पुष्पों पर टूट पड़े। गोस्वामीजी ने कहा, बस-बस, मोह की व्याख्या मिल गई–

सोई सेमर सोइ सुवा सेवत बहुरि बसन्त।
तुलसी महिमा मोह की समुझि सराहत सन्त॥

सन्त लोग कहते हैं कि कितना विचित्र यह मोह है और यही स्थिति हम-आप-सबकी है। हम अनगिनत व्यक्तियों को मरते हुए, रोगग्रस्त होते हुए देख रहे हैं, पर सब कुछ देखते हुए भी तथा स्वयं कष्ट पाते हुए भी हम जीवन में बार-बार उन्हीं भूलों को दोहराते हैं, यही हमारा मोह है।

संशय का तात्पर्य है कि जब व्यक्ति यह निर्णय नहीं कर पाता है कि यह ठीक है कि वह ठीक है। इस संशय की तुलना भी वन से की गयी है। इस सन्दर्भ में रामायण में अनेक सूत्र दिए गये हैं। रामचरित मानस में एक प्रसंग आता है प्रतापभानु का, कि वह वन में जाकर भटक गया। प्रतापभानु जिस वन में भटका, वह मोह का वन था; क्योंकि प्रतापभानु को यह ज्ञात था कि इस मृत्युलोक में कोई भी शरीर से अमर नहीं है। शरीर तो नश्वर है, उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है, पर इस वन में जब कपटमुनि से उसकी भेंट हुई और कपटमुनि ने उससे पूछा कि तुम क्या चाहते हो, तो वन में भटके व्यक्ति ने तुरन्त कहा कि–

जरा मरन दुख रहित तनु, समर जितै जनि कोउ।
एक छत्र रिपुहीन महि राज कलप सत होउ॥१/१६४/०

महाराज! मैं बूढ़ा न होऊँ, मेरी कभी मृत्यु न हो और यही हमारी आपकी भी समस्या है। लोगों को बूढ़े होते हुए देख करके भी यही चिन्ता लगी हुई है कि कहीं हम बूढ़े न हो जाएँ! लोगों को रोगग्रस्त होते हुए देख करके भी हम सारी शक्ति लगा देते हैं कि कहीं बीमार न हों। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम प्रयास छोड़ दें, पर उसमें इतनी तीव्र आसक्ति भी नहीं होनी चाहिए कि सन्त से भी जा करके यही माँगे, यह तो विडम्बना की पराकाष्ठा हो गई। वस्तुतः सन्त के पास देने के लिये सबसे बड़ी वस्तु है भगवान्। जब कोई सन्त कहे कि चाहे जो माँग लीजिए और आप भगवान् को छोड़कर कुछ और माँगें—इसका अभिप्राय है कि आपने न तो सन्त के प्रति न्याय किया और न ही अपने विवेक का सही-सही उपयोग किया। प्रतापभानु ने यह याचना की कि हमारी कभी मृत्यु न हो, हम कभी हारें नहीं, किन्तु भाई! ऐसा कैसे हो सकता है? जीवन में जब कभी विजय होगी तो पराजय भी अवश्यम्भावी है। युवावस्था है तो वृद्धावस्था भी होगी। शरीर है तो रोग भी है, पर यही मोहभरी मिथ्या आकांक्षा उसे वशीभूत कर लेती है। यही है मोह के वन का भटकाव।

प्रतापभानु और कपटमुनि का वार्तालाप जब समाप्त हुआ, तो रात हो गयी थी। प्रतापभानु को घर की चिन्ता लगी हुई थी कि वहाँ तो राजमहल में सारी रानियाँ, मन्त्री और सेनापति मेरे लिये चिन्तित होंगे। ऐसी स्थिति में उसने कहा—महाराज! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं इसी समय अपने घर लौट जाऊँ। बस! कपटमुनि तो कपटी था ही। उसे अवसर मिल गया। एक बात तो आपको बतावें कि साधु बनना जितना कठिन है, साधु का वेश बनाना उतना ही सरल है। अगर वेश के सन्दर्भ में देखें तो वेश तो बाजार में बहुत सस्ता बिकता है। आप दस मिनट में साधु का वेश बना लीजिए। पर सचमुच साधु बन पाना सबसे कठिन साधना है। इसलिए गोस्वामीजी ने सावधान करते हुए लिखा कि—

तुलसी देखि सुवेषु, भूलहिं मूढ न चतुर नर।
सुन्दर केकिहि पेखु बचन सुधा सम असन अहि॥१/१६/१

केवल वेश देख करके मूर्ख व्यक्ति ही भ्रमित होते हैं, बुद्धिमान्

व्यक्ति प्रभावित नहीं होते। किन्तु यहाँ पर तो—

देखि सुवेषु महामुनि जाना।१/१५७/७

उसका सुन्दर वेश देखकर प्रतापभानु सोचने लगा कि यह तो बहुत बड़े मुनि हैं। इनका वस्त्र कितने गहरे रंग में रँगा हुआ है, कुटिया में रहते हैं, इनसे बढ़कर महात्मा कौन होगा? फिर जब पूछा कि मुझे मार्ग बताइए। मानो जिज्ञासु पूछ रहा है, मैं अपने घर पहुँचना चाहता हूँ, अपने लक्ष्य तक पहुँचना चाहता हूँ, कौन-सा मार्ग है? और तब कपटमुनि कहता है—

निसा घोर गँभीर बन पंथ न सुनहु सुजान।
बसहु आजु अस जानि तुम्ह जाएहु होत बिहान॥१/१५९/०

तुम रात्रि के समय यहाँ विश्राम करो, प्रातःकाल होने पर चले जाना। उसने कहा—महाराज! आपकी आज्ञा है तो मैं रुक जाता हूँ। परन्तु वहाँ तो सब लोगों को चिन्ता हो रही होगी, तो कपटमुनि ने कहा कि अब तुम मेरा चमत्कार देख लेना, कि हम बिना चले ही पहुँचा देंगे।

सन्त साधन मार्ग दिखाकर उसमें चलने की प्रेरणा देता है, पर कपटमुनि ने कहा कि तुम्हें कुछ नहीं करना पड़ेगा और तुम पहुँच जाओगे। सचमुच रात्रि में जब वह सोया तो कपटमुनि का मित्र कालकेतु राक्षस वहाँ आया और उसने प्रतापभानु को सोते-सोते उठा लिया और ले जाकर महल में रानी के बगल में सुला दिया। प्रातःकाल जब प्रतापभानु की आँखें खुलीं और देखा कि मैं महल में अपनी रानी के बगल में हूँ, तो बड़ा गद्गद हुआ। सोचने लगा वाह! इतने चमत्कारी गुरु मिले, मुझे चलना नहीं पड़ा और पहुँचा दिया, पर उसने यह ध्यान नहीं दिया कि राम के पास पहुँचा दिया या काम के पास पहुँचा दिया। धन्यता तो तब होती जब वे सोये-सोये राम के पास पहुँचा देते। जैसे हनुमान्जी ने सुषेण वैद्य को पहुँचा दिया था।

हनुमान्जी वास्तविक साधु हैं और ये नकली साधु हैं। वास्तविक साधु वह है जो चाहे जगाकर, चाहे सुलाकर, पर ईश्वर के पास पहुँचा दे। और नकली वह है जो चमत्कार के द्वारा हमें जहाँ से चले थे वहीं पहुँचा दे। प्रतापभानु चला भी था घर से, रानी के पास से और अब फिर वहीं पहुँच गया। यह कौन-सा चमत्कार हुआ कि आप जहाँ से चले थे वहीं-के-वहीं फिर पहुँच गए? बस यही मोह के वन का भटकाव है।

मोहग्रस्त व्यक्ति ऐसे मार्ग की खोज में लगा हुआ है कि जहाँ करना कुछ न पड़े और सब कुछ चमत्कार से हो जाए, पर वह चमत्कार उसको कहाँ ले जाता है इसकी ओर उसकी दृष्टि नहीं है! केवल चमत्कार को चमत्कार की दृष्टि से देखता है! यही है जीवन का भटकाव और यह भटकाव उसे राक्षस के रूप में परिवर्तित कर देता है। यह मोह का वन है।

सतीजी जिस स्थान पर भटक गयीं वह संशय का वन है। जब उन्होंने देखा कि भगवान् शंकर ने उन्हें सच्चिदानन्द कहकर प्रणाम किया तो उन्हें संशय हो गया कि जो ब्रह्म अजन्मा है, जिसे वेद भी नहीं जान पाते हैं, क्या वह शरीर धारण करके मनुष्य बनेगा?—

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत वेद॥१/५०/०

यह संशय का वन है। मोह के वन में भटकाव से राक्षसत्व में परिणति हुई। जब कपटमुनि का सत्संग किया तो प्रतापभानु निशाचर रूप में परिणत हो गया। प्रकाश, अन्धकार के रूप में बदल गया, धर्मात्मा, अधर्मी के रूप में परिवर्तित हो गया और जब संशय के वन में भटकाव हुआ, तो उपाय तो बहुत सुन्दर था। क्योंकि शंकरजी साथ ही थे। शंकरजी के आध्यात्मिक रूप का वर्णन करते हुए कहा गया कि—

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।१/२

भगवान् शंकर मूर्तिमान् विश्वास है। व्यक्ति को साँप काट ले और दवा पास में हो; किन्तु फिर भी यदि दवा न खाए, तो उससे बढ़कर अभागा भला कौन होगा? सतीजी को जब संशय हुआ तो शंकरजी से बता देना चाहिए कि महाराज! मुझे तो साँप ने काट लिया और उनके पतिदेव तो ऐसे हैं जो साँप को भी आभूषण बनाए रखते हैं। रामायण में जैसे संशय को वन कहा गया है, वैसे ही संशय को साँप भी कहा गया है।

गरुड़जी जब काकभुशुण्डिजी के पास आए थे, तो कहने लगे महाराज! मुझे तो साँप ने काट लिया है। काकभुशुण्डिजी ने कहा, गरुड़ को कहीं साँप काट सकता है? उन्होंने कहा कि साँप चाहे भले ही न काटे; लेकिन—

संशय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता।७/६२/६

संशय के सर्प ने मुझे ग्रस लिया है। और आप कृपा करके उसके विष

से मुझे मुक्त कीजिए। अगर विचार करके देखें तो कितना बड़ा सौभाग्य था, सतीजी को अगर संशय के सर्प ने डँस लिया था, संशय के वन में भटक गयी थीं, तो विश्वास तो वहीं थे। लेकिन सतीजी ने शंकरजी को बिल्कुल नहीं बताया कि याद रखिए, साँप यदि काट ले और हम छिपाने की चेष्टा करें, दूसरे को न बतावें या जिसके पास दवा है उसे न बतावें—या वन में भटक जाएँ और भटक जाने के बाद भी अगर किसी मार्गदर्शक से मार्ग न पूछें, तो ये दोनों ही स्थितियाँ बुद्धि की विपरीतता की परिचायक हैं। सतीजी के अन्तःकरण में यही वृत्ति दिखाई दे रही है और तब भगवान् शंकर को सतीजी से कहना पड़ा कि—

सुनहि सती तव नारि सुभाऊ।
संसय अस न धरिअ उर काऊ॥१/५०/६

इस प्रकार सतीजी के मन में भटकाव हुआ और उसकी परिणति बड़ी दुःखदायी हुई। प्रतापभानु की परिणति तो अत्यन्त भयानक हुई।

सतीजी के जीवन में जब संशय की वृत्ति आई और शंकरजी के समझाने पर भी जब समझ में नहीं आया तो भगवान् शंकर ने कहा कि अगर तुम्हें मेरी बात पर विश्वास नहीं है, तो जाकर परीक्षा ले लो। सतीजी जब परीक्षा लेने गयीं, तो सीताजी का वेश बनाकर गयीं। पर भगवान् राम ने ज्यों ही सतीजी को सीताजी के वेश में देखा तो तुरन्त प्रभु ने—

जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू।
पिता समेत लीन्ह निज नामू॥१/५२/७

प्रभु ने कहा कि मैं दशरथ का पुत्र राम आपको प्रणाम कर रहा हूँ। और उसके साथ-साथ यहीं रुक नहीं गए, केवल प्रणाम ही नहीं किया अपितु पूछ भी लिया कि—

कहेउ बहोरि कहाँ वृषकेतु।
बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतु॥१/५२/८

अब इनमें से एक-एक शब्द की आप जितनी व्याख्या करना चाहें कर लीजिए। शब्द तो केवल यही है—'कहाँ वृषकेतु'? शंकरजी कहाँ हैं? और जंगल में आप अकेली क्यों फिर रही हैं? यद्यपि दिखाई तो देता है इतना छोटा-सा वाक्य, पर अर्थ अत्यन्त सांकेतिक है। वृषकेतु कहाँ हैं, इसमें मानो संकेत यह था कि यह सन्देह का वन है और सन्देह के वन

में आपने विश्वास का साथ छोड़ दिया। अन्यत्र विश्वास की चाहे अपेक्षा न हो, पर जब कभी संशय के वन में भटकाव आवे तब तो विश्वास के सहारे ही व्यक्ति स्थिर रह सकता है, पर कितने दुर्भाग्य की बात है कि आपने भटकाव की स्थिति में ही शंकरजी का साथ छोड़ दिया।

विपिन और अकेली? इसमें व्यंग्य यह था कि आपने अभी क्या सुना है? श्रीसीताजी का हरण कैसे हुआ? जब तक मैं और लक्ष्मण दोनों थे तब तक हरण नहीं हुआ और फिर लक्ष्मणजी भी थे तब तक भी सीताजी सुरक्षित रहीं, पर आपने ध्यान दिया कि वहाँ पर भी जब भटकाव आया तो कैसे आया? वैसे दण्डकारण्य भी संशय का ही वन है और भटकाव भी इस रूप में है कि सीताजी के मन में लक्ष्मणजी के चरित्र के विषय में सन्देह हो गया और उन्होंने कटु शब्दों के द्वारा लक्ष्मणजी को दूर भेज दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि रावण को अवसर मिला और उसने श्रीसीताजी का हरण कर लिया। प्रभु के वाक्य में व्यंग्य यह था कि बुद्धिमान् व्यक्ति दूसरों के अनुभव से भी तो सीखता है। जब आप अभी शंकरजी से सुन चुकी थीं कि श्रीसीताजी का हरण इसलिए हुआ कि वे जंगल में अकेली रह गयीं तो आपको स्वयं भी सावधान रहना चाहिए था। किन्तु लगता है आप कुछ भी सीखने की स्थिति में नहीं हैं। आपको अपनी बुद्धिमत्ता का इतना अहंकार है कि आपको लगता है कि उनका भले ही हरण हो गया हो पर मेरे जीवन में कोई समस्या नहीं आएगी। और व्यंग्य यह है, सतीजी का हरण भले ही न हुआ हो, पर शंकरजी के द्वारा त्याग तो हो ही गया। इधर भगवान् राम से सीताजी की शरीर से दूरी उत्पन्न हो गयी तो उधर शंकरजी से सतीजी की मन से दूरी उत्पन्न हो गई। यह है संशय की समस्या। संशय के वन में यदि हम ईश्वर तथा सन्त का साथ छोड़ देंगे, तो भटकाव आवेगा और वह भटकाव हमें लंका पहुँचा देगा। जहाँ मोह बन्दी बनाकर हमें ईश्वर से दूर कर देगा। यह है संशय तथा मोह का वन। भगवान् श्रीराघवेन्द्र जब अयोध्या से निष्कासित किए गए, तो उन्होंने भी वन में ही निवास किया, किन्तु उन्होंने जिस वन में रहना पसन्द किया वह वन है चित्रकूट का। आइए! इस वन की कुछ चर्चा की जाए।

भगवान् श्रीराम अयोध्या से निकलकर महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में जाते हैं। उनसे पूछते हैं कि महाराज! आप कोई ऐसा स्थान बताइए

जहाँ मैं निवास करूँ। तब महर्षि वाल्मीकिजी ने चित्रकूट की जो व्याख्या की, आप यदि उससे इस रामकथा मन्दाकिनी को जोड़कर विचार करें तो आपको बिल्कुल नवीन सूत्र मिलेगा। वाल्मीकिजी ने कहा कि–

चित्रकूट गिरि करहु निवासू।
तहँ तुम्हार सब भाँति सुपासू॥२/१३१/३

तुम चित्रकूट पर्वत पर निवास करो, वहाँ तुम्हें हर प्रकार का सुवास होगा। और वहाँ की विशेषता यह है कि–

अत्र आदि मुनिवर बहु बसहीं।
करहिं जोग जप-तप तन कसहीं॥२/१३१/७

राघवेन्द्र! वहाँ पर अत्रि-अनसूया जैसे महापुरुष निवास करते हैं, जो जप-तप आदि से अपने शरीर को निरन्तर तपस्या की कसौटी पर कसते रहते हैं। और साथ-साथ वहाँ पर मन्दाकिनी नाम की एक नदी भी बह रही है और यह मन्दाकिनी कौन है? कहा कि–

सुरसरि धार नाउँ मन्दाकिनी।
जो सब पातक पोतक डाकिनी॥१॥
अत्रि आदि मुनिवर बहु बसहीं।
करहिं जोग जप-तप तन कसहीं॥२॥
चलहु सुफल श्रम सब कर करहू।
राम देहु गौरव गिरिबरहू॥३॥२/१३१/६
चित्रकूट महिमा अमित कही महामुनि गाइ।
आइ नहाए सरि बर सिय समेत दोउ भाइ॥

यहाँ पर मन्दाकिनी का पहला परिचय यह कहकर दिया गया कि वह गंगा की एक धारा है। इस प्रकार रामकथा गंगा और रामकथा मन्दाकिनी भी है। अब आइए इसकी तुलना करें। सबसे पहले रामकथा की गंगा का प्राकट्य हुआ और उसी रामकथा की गंगा से एक शाखा के रूप में उसी रामकथा की मन्दाकिनी प्रवाहित होती है। रामकथा की गंगा कब प्रवाहित हुई? इसे गंगाजी की कथा के अवतरण से मिला लीजिए कि कैसे गंगाजी आती हैं और आकर कैसे सारे संसार के जीवों को धन्य बनाती हैं? वैसे ही भगवान् की कथा की गंगा का भी प्राकट्य हुआ।

गंगा का प्राकट्य तब हुआ जब बलि की यज्ञशाला में भगवान् ने अपना चरण बढ़ाया और सारे ब्रह्माण्ड को उन्होंने दो ही पग में नाप लिया। उस समय भगवान् के उन चरणों को देखकर ब्रह्मा गद्‌गद हो गये तथा कमण्डलु लेकर भगवान् के पास गये और प्रभु के चरण का जो नख था उसे उन्होंने कमण्डलु के जल से धो लिया और यहीं गंगा का प्रथम उद्‌भव हुआ। इसी प्रकार इस रामकथा के लिये भी ब्रह्मा चाहिए, ब्रह्मा का कमण्डलु और कमण्डलु में जल चाहिए। याद रखिएगा कवि ही ब्रह्मा है। ब्रह्मा बुद्धि के देवता हैं। सरस्वती ब्रह्मा की निरन्तर निकट निवासिनी हैं। ब्रह्मा की तरह कवि भी नई कविता बनाकर नई सृष्टि की रचना करता है। यद्यपि कवि लोग रचना तो किया करते हैं, लेकिन सभी कवियों की लेखनी से गंगा नहीं निकलती। पहला प्रश्न तो यह है कि ब्रह्मा के पास कमण्डलु है परन्तु कवि के पास कमण्डलु है कि नहीं? वस्तुतः विचार ही कमण्डलु है। यदि कमण्डलु खाली होगा तो आप चरण कैसे धोएँगे? इसलिए विचार के कमण्डलु में अनुराग तथा भावना का जल है कि नहीं। ब्रह्मा के पहले पाँच मुख थे पर भगवान् शंकर ने एक सिर काट दिया था जब वे सरस्वती के पीछे भागे थे। इसका अभिप्राय है कि जब कोई कवि स्वयं ही अपनी कविता की सुन्दरता के पीछे भागने लगे। इसको यों कह सकते हैं कि जैसे कन्या को पिता जन्म तो देता है पर उसकी सुन्दरता को वह वर के प्रति समर्पित करता है, यही पिता की धन्यता है। कवि भी अगर पिता के रूप में कविता रूपी सुन्दरी कन्या का निर्माण करके उसे भगवान् से ब्याह दे तो उसने कविता का सार्थक सदुपयोग किया। पर अगर कहीं उसने कविता के पीछे स्वयं ही आसक्ति भरी दृष्टि से भागना शुरू किया, तो मानो वह उचित कार्य नहीं है। इसलिए भगवान् शंकर ने एक मुख काट दिया और पाँचवाँ जो सिर भगवान् शंकर ने काटा वह मानो आसक्ति का प्रतीक है। ब्रह्मा के चार मुख हैं। यद्यपि साधारण व्यक्ति की तो आँखें सामने ही होती हैं और वह एक ही ओर देख पाता है, पर चार मुखवाले के पास सुविधा यह है कि उसे चारों ओर दिखाई देता है। इसी प्रकार कवि के भी चार मुख होने आवश्यक हैं। इसका तात्पर्य है कि कवि वही होगा जिसको चारों ओर का सत्य दिखाई दे रहा है, जिसकी आँखें पैनी हैं जो देखने में सक्षम हैं। अगर विचार के कमण्डलु

में भावना का जल है तो उस कवि की कविता बड़ी भावुक भी होगी—पर इससे पूर्ति नहीं होगी। क्योंकि महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि उस भावना भरे जल से आप संसार का पग पखारते हैं कि भगवान् का? इसका अभिप्राय है कि कविता का उपयोग आप किस दिशा में करना चाहते हैं?

इतिहास में न जाने कितने ऐसे कवि हुए हैं जिन्होंने अपनी कविता का उपयोग राजा, महाराजाओं की स्तुति के लिये किया। यद्यपि कविताएँ बड़ी सुन्दर तथा साहित्यिक हैं। लेकिन गोस्वामीजी ने कहा कि भई! किसी व्यक्ति के गुण यदि आप व्यक्ति के नाते से गावेंगे तो वह गंगा नहीं होगी, अपितु—

पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते।
सब मानिअहिं राम के नाते॥२/७३/७

कवि की दृष्टि में व्यक्ति वन्दनीय है पर व्यक्ति के नाते से नहीं, बल्कि भगवान् के नाते से वन्दनीय है। और इस नाते से वह चाहे किसी का भी गुणानुवाद गाए पर उस कविता की सार्थकता है—

जे कायर कलि काल कठिन कल।
सूखत बदन प्रसंसत निसिदिन हरि ते अधिकहि मानें॥

प्रशंसा तभी है कि जब उन्हीं के सन्दर्भ में हम अपनी प्रतिभा का उपयोग करते हैं।

गोस्वामीजी से किसी ने कहा कि यदि हम संसार का वर्णन करें तब भी तो कविता बन जाती है। और तब उन्होंने बहुत बढ़िया व्यंग्य करते हुए कहा कि कवि जब कविता करने के लिये सरस्वतीजी को बुलाता है तो सरस्वतीजी आती हैं और यदि कहीं उस सरस्वती को हम संसार से जोड़ दें, तो पता है सरस्वती क्या करती हैं? उन्होंने कहा कि—

कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना।
सिर धुनि गिरा लगत पछिताना॥१/१०/७

उस समय सरस्वती सिर पीटने लगती हैं। अभिप्राय यह है कि तबले और वाद्य में भी स्वर निकलता ही है। लेकिन सिर पीटनेवाला स्वर न तो स्वयं को सुख देता है और न ही वह कल्याणकारी है।

रामकथा की गंगा भी तब प्रकट हुई जब भगवान् वामन से विराट् बने। इसका संकेत क्या है? ब्रह्मा से किसी ने पूछ दिया कि भगवान् तो

बलि की यज्ञशाला में लीला कर रहे हैं। बलि यदि भगवान् का चरण धोएँ तो आश्चर्य नहीं, पर आप प्रभु का चरण क्यों धो रहे हैं? ब्रह्मा ने कहा कि जिस ब्रह्माण्ड को प्रभु नाप रहे हैं, वह मेरा बनाया हुआ है। और कहीं-न-कहीं मुझे यह गर्व था कि मैंने कितना बड़ा ब्रह्माण्ड बनाया। सो आज प्रभु ने अपने चरणों से नापकर बताया कि ब्रह्मा! तुम्हारा ब्रह्माण्ड कितना छोटा है। वस्तुतः भगवान् बलि का नहीं अपितु मेरे कर्तृत्व का अभिमान नाप रहे हैं, यह है ब्रह्मा की अनुभूति। इसका अभिप्राय है कि कवि में अगर अपने कर्तृत्व का गर्व है—तो वह रामकथा गंगा को प्रकट नहीं कर पावेगा।

भगवान् के विषय में भीं कविता का श्रीगणेश करने से पहले वह भगवान् के विराट् रूप को देखे। और यह अनुभव किया कि भगवान् कितने विराट् हैं और उनके सामने हमारी रचना, हमारी कृति और हमारे शब्द कितने सामर्थ्यहीन हैं? इस प्रकार भगवान् के विराट् रूप की अनुभूति हो और फिर वह भावना तथा अनुराग के जल से भरे हुए कमण्डलु को भगवान् के चरणों में ही लगा दे। और ज्यों ही भगवान् के चरणों से यह अनुराग तथा भावना जुड़ेगी, विचार जुड़ेगा, कवि के अन्तःकरण में कर्तृत्व मिटने से अभिमान-शून्यता आ जाएगी। मैं कवि हूँ यह मान मिट जाएगा। गोस्वामीजी ने इतने बड़े श्रीरामचरितमानस की रचना करने के बाद भी यही कहा—

कवि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ।

मैं कवि नहीं हूँ। कितनी अनोखी बात है? जिसके द्वारा इतनी बड़ी कृति की रचना हुई, वे कहते हैं 'मैं कवि नहीं हूँ' और इससे उनको लाभ ही लाभ है। यह पूछा जा सकता है यदि कवि नहीं हैं तो कविता कैसे बन गई? इसका अभिप्राय यह है कि एक कविता वह है जो प्रयत्नजन्य है। व्यक्ति प्रयत्न करके शब्द बैठाता है और दूसरी कविता वह है, जहाँ पर कवि ने अपने को शून्य बना दिया है। जो अपनी जिह्वा का बोलने के लिये उपयोग नहीं करता, वाणी को खाली कर देता है और तब उसका परिणाम यह होता है कि—

सारद दारुनारि सम स्वामी।
रामु सूत्रधर अन्तरजामी॥

जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी।
कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥१/१०४/५

गोस्वामीजी कहते हैं—भगवान्! सरस्वती को कठपुतली बनाकर उस कवि की जिह्वा पर नृत्य कराते हैं। बहुत बढ़िया संकेत कर दिया गया। कविता हो रही है पर कविता करनेवाले स्वयं प्रभु हैं, व्यक्ति तो केवल उसका निमित्त मात्र है।

गोस्वामीजी से किसी ने पूछा कि जो कुछ आपने लिखा है, वह मौलिक है कि तोतारटन्त है। आज भी ग्रन्थों में जब कोई दावा करता है तो यही कहता है कि यह मेरी मौलिक कृति है, मौलिक विचार हैं। इसके द्वारा मानो वह कहना चाहता है कि इससे पहले यह विचार किसी के मस्तिष्क में नहीं आया था। यह तो मेरी बात है। परन्तु गोस्वामीजी कहते हैं कि अपना तो सब तोतारटन्त है। सुननेवाले ने कहा कि यह घोषित करके तो आप अपने को नीचा दिखा रहे हैं। तुलसीदासजी ने कहा, नहीं भाई! मौलिक प्रतिभा जिसकी होती है, उसको देखकर उसी की ओर दृष्टि जाती है, पर अगर तोता बढ़िया पाठ पढ़ने लगे तो पढ़ानेवाले की ओर दृष्टि जाती है कि इस तोते को पाठ किसने पढ़ाया? इसलिए गोस्वामीजी ने भगवान् से कहा दिया—

आपु ही आपु हौं नीकै कै जानत।
राम तिहारी भरायो गढ़ायो।
कीर जौ नाम रटै तुलसी॥

खोज की गयी कि तुलसीदास से इतनी बढ़िया कविता किसने करा ली? तो अन्त में पता लग गया कि—

सो कहै जग जानकीनाथ पढ़ायो।

बोले—प्रभु! चारों ओर प्रचार हो गया है कि कविता मेरी नहीं, आपकी है। और जब आपने पाठ पढ़ाया है तो फिर आगे की चिन्ता भी आप ही कीजिएगा। वस्तुतः जब कोई अच्छी रचना हो जाती है तो व्यक्ति को भविष्य की और चिन्ता होती है कि फिर से अगर अच्छी रचना न हुई तो क्या होगा? संसार में ऐसा देखा भी गया है कि किसी के द्वारा एक-दो रचनाएं बहुत अच्छी हो जाती हैं, किन्तु यह तो आवश्यक नहीं कि अन्य भी वैसी ही हों। पर गोस्वामीजी ने कहा—हमें क्या चिन्ता है? क्योंकि—

सोइ है खेद जो वेद कह्यो
न घटै जन जो रघुबीर बढ़ायो।
हौं तो सदा खर को असवार
तिहारो ही नाम गयंद चढ़ायो॥

मैं तो पुराना गधे का सवार था, अगर आपके नाम ने हाथी पर चढ़ा दिया, तो यदि उतारा जाएगा तो आपका नाम उतारा जाएगा। मेरा क्या बिगड़ेगा, मैं तो पुराना गधे का सवार हूँ ही। इसका मूल सूत्र यह है कि जिस कवि के अन्तःकरण में कर्तृत्व का अभिमान नहीं है; मैं कवि हूँ, यह वृत्ति जिसके मस्तिष्क से मिट चुकी है और जिसको भगवान् का विराट् रूप दिखाई दे रहा है। प्रभु ने सारे ब्रह्माण्ड को अपने चरणमात्र से नाप लिया है—प्रभु के विराटत्व की ऐसी अनुभूति जिसके अन्तःकरण में हो रही है और तब अनुराग तथा भाव भरे जल से जब वह प्रभु के चरणों को पखारता है, तो उसके कमण्डलु में गंगा आ जाती हैं। यह है गंगारूपी कविता का जन्म।

गंगा पहले ब्रह्मा के कमण्डलु में आयीं। पर ब्रह्मा ब्रह्मलोक में रहते हैं और वहाँ तक पहुँचना तो बिरले व्यक्ति के लिये ही सम्भव है। वैसे भी अगर कवि की रचना इतनी ऊँची हो जाय कि साधारण व्यक्ति उसे समझ ही न सके, तो फिर उसका लाभ जन को तो नहीं मिला। इसका अभिप्राय यह है कि वह कविता जो दिव्य तत्त्व से भरी हुई है, उस गंगा को लोक के लिये सुलभ भी बनाना है। कथा का तत्त्व भी यही है। जैसे गंगाजी अगम थीं वैसे ही रामकथा का जो मूल रूप है वह तो सचमुच अद्भुत वर्णनातीत है। गंगा लोककल्याण के लिये भगीरथ की कृपा से ब्रह्मा के कमण्डलु से नीचे उतारी गयीं। गंगाजी ने कहा, मैं उतरने को तो प्रस्तुत हूँ, पर मृत्युलोक में मुझे कोई धारण करनेवाला है क्या? जब मैं उतरूँगी तो मेरा वेग इतना होगा कि कहीं ऐसा न हो कि मेरे वेग से धरती फट जाय और मैं पाताल में चली जाऊँ। इसलिए मुझे कोई धारण करनेवाला तो हो। और तब पता चला कि शंकरजी धारण करेंगे। इसका अभिप्राय है कि विवेक के कमण्डलु से जो कथा की गंगा निकली उसे साधारण व्यक्ति कैसे धारण करेगा? उसे तो विवेकी वक्ता और विश्वासी श्रोता ही धारण करेगा। इसका अभिप्राय है कि विवेक से बोले

और विश्वास से सुने, तो मानो गंगा आ गयीं, यही इसका समन्वय है। वक्ता जब विवेकी नहीं होगा तो उसकी कथा युक्ति-संगत नहीं होगी और श्रोता भी अगर मात्र विवेकी होकर बैठ जाए, तर्क की कैंची से सारी बातें काटता रहे और कथा में दोष ही दोष निकालते रहे, तो इसका परिणाम यह होगा कि वह कथा आप धारण नहीं कर पावेंगे।

शंकरजी के पास दोनों गंगा हैं—एक जो ब्रह्मा के कमण्डलु से नीचे उतरीं वह उन्होंने मस्तक पर धारण किया है और रामकथा की गंगा इनके पास पहले से ही है। पर दोनों के उद्गम में एक अन्तर है। वे गंगा तो ब्रह्मा के कमण्डलु से निकलीं पर रामकथा की गंगा का उद्भव शंकरजी के हृदय से हुआ और शंकरजी का स्वभाव यह है कि गंगा जब आ गयीं तो इतने आनन्द में डूब गये कि गंगा बाहर निकल ही नहीं रही हैं। इसका अभिप्राय है कि कभी-कभी इतना रस आता है कि रस का अनुभव करनेवाले को बाहर निकलने का मन ही नहीं होता। सच्चा वक्ता वह नहीं है जिसको कहकर आनन्द आता है, बल्कि बिना कहे भी जो उस रस का पान करता हुआ स्वयं आनन्द लेता है। यही शिव का स्वभाव है। जब भगीरथ ने प्रार्थना की कि महाराज भगवती गंगा को और नीचे आने दीजिए और तब भगवान् शंकर ने कृपा करके अपने मस्तिष्क से उस धारा को प्रवाहित किया। गंगा उतरीं और उतरकर गंगासागर तक बहकर जीवों को धन्य बनाने लगीं। यह ब्रह्मा के कमण्डलु में प्रकट होनेवाली गंगा थीं, पर यह जो रामकथा की गंगा थीं, उसको तो भगवान् शिव अपने हृदय में छिपाए हुए थे और वहाँ से उन्हें प्रकट ही नहीं कर रहे थे—

रचि महेश निज मानस राखा।१/३४/११

अब इस गंगा को प्रकट करने का श्रेय किसे है? और तब आप देखेंगे कि इस गंगा को प्रकट करने का श्रेय पार्वतीजी को है—

पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा।१/३४/११

पार्वतीजी न होतीं तो ये रामकथा की गंगा शंकरजी के हृदय में रह जातीं, हम लोगों के पास बहकर न आतीं। अब यहाँ दूसरा सूत्र यह है कि पार्वतीजी कौन हैं?

पार्वतीजी मूर्तिमती श्रद्धा हैं। इसका अभिप्राय है कि जब आप

रामकथा की गंगा को नीचे उतारना चाहेंगे, तो पहले श्रद्धा से प्रार्थना करें। क्योंकि विवेक और विश्वास से निकल करके यह कथा तब प्रवाहित होगी जब सामनेवाला कोई पार्वती तो बने। इसका अभिप्राय है कि वक्ता भले ही शिव हो, पर श्रोता पार्वती हैं कि नहीं? पार्वती का तात्पर्य स्त्री-पुरुष से नहीं है। वस्तुतः पार्वतीवाली वृत्ति है कि नहीं! आपने देखा शंकरजी के हृदय में रामकथा की गंगा थी और पार्वतीजी पूर्वजन्म में दक्षपुत्री सती के रूप में उनकी पत्नी थीं।

भगवान् शंकर ने एक दिन सतीजी से कहा कि मैं कथा सुनने जा रहा हूँ। आश्चर्य! स्वयं कथा के सबसे बड़े निर्माता और हृदय में कथा को धारण किए हुए हैं, पर कथा सुनने जा रहे हैं! और जा भी कहाँ रहे हैं, दण्डकारण्य में। सतीजी ने जानना चाहा, महाराज! कैलास से उतरकर आप इतने नीचे दण्डकारण्य में जाएँगे! शंकरजी ने कहा, सती! ऊपर से नीचे उतरे बिना कथा समझ में ही नहीं आती। इसलिए कैलास से उतरना जरूरी है। वक्ता को ऊपर बैठाया जाता है और श्रोता को नीचे, इसका अभिप्राय यह है कि जब श्रोता के मन में वक्ता के प्रति विश्वास होता है और तब स्वयं अपने आपमें शिष्य भाव अथवा जिज्ञासु भाव लेकर श्रवण करता है, तब कहीं सच्चे अर्थों में वह कथा का आनन्द ले पाता है। इसलिए पार्वती बनना बहुत कठिन है।

शंकरजी नीचे उतरकर जब कथा सुनते हैं तब कथावाचक कौन है और पता चलता है कुम्भज ऋषि वक्ता हैं। कुम्भज का अर्थ तो आप सब जानते ही हैं। कुम्भ कहते हैं घड़े को और कुम्भज के माने जिनका जन्म घड़े से हुआ है। सतीजी ने कहा, महाराज! आपने तो और भी आश्चर्यचकित कर दिया; क्योंकि आप तो हैं साक्षात् समुद्र—

चरित सिन्धु गिरजा रमण।

क्या कभी समुद्र घड़े के पास जाता है? फिर आप घड़े के बेटे के पास सुनने क्यों जा रहे हैं? शंकरजी ने कहा, सती जो समुद्र को घड़े में ला सके वही तो कथावाचक है। कुम्भजजी बहुत बढ़िया कथावाचक हैं जिन्होंने जन्म तो लिया घड़े में और पी लिया समुद्र को। महर्षि अगस्त्य में यह बड़ी अद्भुत क्षमता है। सतीजी ने कहा, मैं भी चलूँगी और भगवान् शंकर के साथ चली गयीं।

भगवान् शंकर ने सतीजी को कथा पहले कभी नहीं सुनाई थी—उन्हें लगता था कि मैं सुनाने लगूँ और कहीं उनके पिता दक्ष के संस्कार जग जाएँ तब तो सारा रस चौपट हो जाएगा। इसलिए वे परख रहे थे। और यहाँ पर भी शंकरजी के साथ चली तो गयीं, पर पहुँच जाने के बाद सबके लिये सुन लेना सम्भव नहीं होता। इसका सीधा-सा तात्पर्य है कि कथा सुनने के लिये आप कहाँ पर बैठे हुए हैं? कई श्रोता शरीर में बैठकर सुनते हैं तो उनको कथा में नींद आने लगती है; क्योंकि शरीर का धर्म प्रबल हो गया तो कथा नहीं सुन पा रहे हैं। कई व्यक्ति मन में बैठकर सुनते हैं, उन्हें मनोरंजक बातों पर आनन्द आएगा। हँसी की बात पर तो आनन्द आया, पर बुद्धि की बात आई तो मन से कहीं और चले गए। यद्यपि शरीर से तो बैठे हुए हैं कथा में और मन से कहीं और घूम रहे हैं। यदि केवल बुद्धि से सुनेगा तो तर्क-वितर्क उत्पन्न होंगे और अहंकार होगा तो सुनेगा ही नहीं।

रामायण की मान्यता के अनुसार सर्वश्रेष्ठ श्रोता वह है जो मन, बुद्धि, चित्त तीनों को कथा में लगा दे। इस प्रकार जब कोई कथा को सुनेगा तो कथा समझ में भी आवेगी और जीवन में भी उतरेगी। सरल-सा अर्थ है कि मन में रस आएगा, बुद्धि से समझ में आवेगी और चित्त के द्वारा जीवन में उतरेगी और सतीजी की समस्या यही तो थी।

सतीजी शंकरजी के साथ चली तो गयीं, पर कथा सुन नहीं पाईं। क्योंकि ज्योंही अगस्त्यजी ने देखा—शंकरजी आए हुए हैं तो उठकर बड़ा स्वागत किया। अब एक सरल-सा प्रश्न यह है कि वक्ता बड़ा है कि श्रोता? और बहुत बढ़िया उत्तर है। शंकरजी मानते हैं कि वक्ता बड़ा है, इसलिए अगस्त्यजी को न बुलाकर स्वयं नीचे चले आए और कथा सुनकर गद्गद हो उठे। दूसरी ओर वक्ता अगस्त्यजी अगर समझ लेते मैं कितना बड़ा हूँ जो कि शंकरजी तक मेरे पास सुनने चले आए, तो उनमें श्रेष्ठता का अभिमान आ जाता, पर यहाँ तो अगस्त्यजी गद्गद होकर सोच रहे हैं; सचमुच शंकरजी की कितनी महानता है। जैसे बालक के पास जब माता-पिता आते हैं तो उनमें उनका वात्सल्य होता है। इसी प्रकार से शंकरजी और सतीजी तो माता-पिता हैं। आज वे स्वयं कृपा करके चले आए। गोस्वामीजी ने लिखा—

एक बार त्रेता जुग माँहीं।
सम्भु गये कुम्भज रिषि पाँही॥
संग सती अग जननि भवानी।
पूजे रिषि अखिलेस्वर जानी॥२॥१/१४७/१

भगवान् शंकर ने सतीजी को ऊँचे आसन पर बैठाया और लगे उनका पूजन करने। इसका अर्थ है कि श्रोता तो वक्ता की पूजा करे ही, पर इतना ही नहीं, वक्ता अगर सच्चे अर्थों में कथा कहना चाहता है तो उसको भी इसलिए श्रोता की पूजा करनी चाहिए; क्योंकि श्रोता को निमित्त बनाकर तो भगवान् के गुणानुवाद वर्णन कराने का अवसर प्राप्त होता है।

वर्णन आता है कि गरुड़जी जब काकभुशुण्डिजी के पास कथा सुनने आए तो आश्चर्यजनक घटना थी यह; क्योंकि गरुड़ पक्षियों के राजा हैं और सुनने आ गये कौवे के पास जो पक्षियों में सबसे नीच है। लेकिन काकभुशुण्डिजी को यह गर्व नहीं हुआ कि मैं कितना बड़ा हूँ जो कि मेरे पास कथा सुनने पक्षियों का राजा आया है। उन्होंने तो यही कहा, गरुड़! जानते हैं आप स्वेच्छा से थोड़े ही आए हैं बल्कि प्रभु ने आपको भेजा है। गरुड़जी ने कहा, मुझे तो प्रभु के विषय में ही सन्देह है। उन्होंने कहा—नहीं, नहीं, यह भी प्रभु की लीला है। जानबूझकर उन्होंने आपके मन में संशय उत्पन्न करके आपको यहाँ भेजा। क्योंकि—

पठइ मोह मिस खगपति तोही।
रघुपति दीन्हि बड़ाई मोही॥७/६९/४

भगवान् छोटे को बड़ा बनाते हैं। प्रभु मानो यह बताना चाहते हैं कि व्यक्ति बड़ा नहीं है तत्त्वतः तो कथा इतनी बड़ी है कि इसके सामने बड़ा-से-बड़ा व्यक्ति भी छोटा हो जाता है। मुझे तो लगता है कथा की महिमा प्रकट करने के लिये ही प्रभु ने ऐसा अवसर दिया है।

भगवान् शंकर और मुनिजी का परस्पर विनम्र भाव बढ़ रहा है। इसके पश्चात् जब कथा प्रारम्भ हुई तो शंकरजी गद्‌गद हो गये कि ऐसा विनम्र कथावाचक कौन होगा? पर सतीजी बुद्धि और अहं की भूमिका में स्थित हो गयीं। परिणाम हुआ कि उनको बिल्कुल नहीं सुनाई पड़ी। क्योंकि, उनकी बुद्धि ने तर्क-वितर्क करते हुए अहंकार का समर्थन किया। उन्हें लगा कि

इन्होंने मेरी पूजा की, इसका तात्पर्य यह हुआ कि मेरी अपेक्षा यह कम बुद्धिमान् हैं। छोटे हैं और जब वे मुझसे छोटे हैं तो मैं इनकी बात क्यों सुनूँ? मुझे सुनने की कोई आवश्यकता नहीं है और इसके साथ उन्होंने पातिव्रत का अहंकार अलग पाल लिया। अरे! मुझे कथा सुनने की थोड़े ही आवश्यकता है। मैं तो शंकरजी की पतिव्रता पत्नी हूँ। कथा कोई और सुने, मुझे कोई अपेक्षा नहीं इसकी। और जब इस प्रकार परमात्मापन का अभिमान, बुद्धिमत्ता का अभिमान आया, तो परिणाम यह हुआ कि कथा में बैठी रहीं, पर कथा सुनी नहीं। और जब समाप्त हुई, तो शंकरजी ने महर्षि के अनुरोध पर उन्हें नवधा भक्ति का उपदेश दिया—

रिषि पूछी हरि भगति सुहाई।
कही संभु अधिकारी पाई॥१/४७/४

कितना अद्भुत रस आ रहा है। भगवान् शंकर महर्षि से सुन रहे हैं और महर्षि शंकरजी से सुन रहे हैं। पर जिन्होंने अहंकार की भूमि पर बैठकर धर्म का, बुद्धिमत्ता का अहंकार लेकर कथा का तिरस्कार किया है, अन्त में भगवान् शंकर के द्वारा उन सतीजी का त्याग हो गया। मानो भगवान् शंकर कहते हैं कि जो बुद्धि भगवान् के प्रति कुतर्क करे, संशय उत्पन्न करे, वह बुद्धि चाहे कितनी सुन्दर क्यों न हो, वह ग्राह्य नहीं है। उसको छोड़ ही देना चाहिए। अन्त में बड़ी कठिन साधना के बाद वे बदल गयीं। बदलीं भी कैसे? अगले जन्म में पार्वती बनीं और भगवान् शंकर के सामने बैठ करके बहुत मीठा वाक्य कहा—

कथा जो सकल लोक हितकारी।
सोइ पूछन चह सैलकुमारी॥१/१०६/६

महाराज! शैलकुमारी आपसे कथा सुनना चाहती हैं। यह शैलकुमारी शब्द क्यों कह दिया? उनका तात्पर्य था कि दक्षकुमारी को तो आपने इस योग्य माना नहीं कि सुनावें। अब मैं दक्षकुमारी नहीं रह गई। अब तो शैलकुमारी हो गई। अब तो सुनाने की कृपा करेंगे न! उनका अभिप्राय है कि गंगा भी भगवान् शंकर के मस्तिष्क से निकलकर हिमालय पर्वत पर पहुँचीं और मैं भी हिमालय की बेटी हूँ। मेरे पिता के द्वारा गंगा का प्राकट्य हुआ तो आज उनकी पुत्री के द्वारा दूसरी गंगा का अवतरण होना चाहिए।

पूर्व जन्म का अनुभव लेकर सतीजी ने दूसरे जन्म में पति के रूप में तो शंकरजी को ही माँगा, पर दक्ष के स्थान पर पत्थर की बेटी बनना पसन्द किया; क्योंकि पत्थर तो निष्ठा का प्रतीक है। हिमालय अडिग निष्ठा का परिचायक है। उसी पहाड़ के बीच से जल की दिव्य धारा प्रवाहित होती है। इस प्रकार बुद्धि श्रद्धा के रूप में परिवर्तित हुई और जब उन्होंने यह प्रश्न किया तो यद्यपि शंकरजी के हृदय में तो यह रामकथा की गंगा न जाने कितने दिनों से थीं—पर आज शंकरजी गद्‌गद हो गये और आनन्दित हो करके कहा, पार्वती—

पूँछेहु रघुपति कथा प्रसंगा।
सकल लोक जग पावनि गंगा॥१/१११/७
तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी।
कीन्हिहु प्रश्न जगतहित लागी॥

तुम्हारे अन्तःकरण में प्रभु के प्रति इतना प्रेम है कि तुम अपने बहाने से रामकथा की धारा को प्रवाहित करना चाह रही हो। और आज उस रामकथा की गंगा में हम सब स्नान कर रहे हैं।

□

॥श्रीरामः शरणं मम॥

पंचम प्रवचन

गोस्वामीजी रामकथा की तुलना मन्दाकिनी नदी से करते हैं। चित्त की तुलना चित्रकूट के कामदगिरि से करते हैं और वन की तुलना प्रेम से करते हैं। इस प्रकार वे एक ही दोहे में कथा को चित्रकूट के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं। कि—

रामकथा मन्दाकिनी चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुबीर बिहारु॥१/३१/०

भगवान् श्रीराम का जो इतिहास है, वह तो सीमा में आबद्ध है। क्योंकि इतिहास में जो घटनाएँ घटित होती हैं, वे काल की परिधि में संक्षिप्त ही होती हैं, पर कथा अनन्त है। पिछले दिनों आपके समक्ष सूत्र दिया गया है कि इतिहास में तो केवल घटनाओं का वर्णन होता है, पर कथावाचक की भूमिका थोड़ी भिन्न होती है। इतिहास की घटनाओं को देखने की दृष्टि भिन्न-भिन्न हो सकती है और होती भी है। श्रीरामचरित मानस में भगवान् श्रीराम के इतिहास में जो घटनाएँ घटित हुई हैं उन घटनाओं को देखनेवाले व्यक्तियों की दृष्टि में भिन्नता है और अपनी दृष्टि के अनुकूल ही वे उन घटनाओं की व्याख्या करते हैं। इसलिए यह वाक्य कहा गया कि इतिहास का भले ही अन्त हो जाए, लेकिन कथा का कभी अन्त नहीं होता—

राम अनंत-अनंत गुन अमित कथा बिस्तार।
सुनि आचरजु न मानिहिहिं जिन्हके बिमल बिचार॥१/३३

इस सन्दर्भ में श्रीरामचरितमानस में भी आप यही बात पावेंगे। मानस के प्रारम्भ में जब यह कहा गया कि भगवान् शंकर ने यह कथा

पार्वती को सुनाई, काकभुशुण्डिजी ने गरुड़ को और याज्ञवल्क्यजी ने भरद्वाजजी को सुनाई तथा तुलसीदास ने अपने मन को यह कथा सुनाई, तो प्रश्न यह है कि इनमें वक्ताओं की गणना करने की क्या आवश्यकता है? इसका सीधा-सा अभिप्राय यह है कि इन चार वक्ताओं की दृष्टि से भिन्नता है। भले ही श्रीराम एक हों, पर सबको एक ही घटना में अलग-अलग अर्थ की अनुभूति होती है। इसलिए जब श्रीरामकथा की तुलना विभिन्न नदियों से करते हुए यह कहा गया कि श्रीराम की कथा गंगा हैं, यमुना हैं, नर्मदा हैं, सरस्वती हैं और मन्दाकिनी हैं, तो इसके माध्यम से यह बताया गया कि भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में कथा के भिन्न-भिन्न रूप सामने आते हैं।

इस बार विशेषरूप से मन्दाकिनी की चर्चा की गयी है। और वाल्मीकि के शब्दों में मन्दाकिनी का परिचय देते हुए कहा गया कि यह मन्दाकिनी, गंगा की एक धारा है। गंगा के रूप में जो इनकी कथा है। उसकी क्या विशेषता है और इस कथा के द्वारा व्यक्ति के अन्तःकरण में क्या प्रेरणा दी गई? यद्यपि भगवान् शंकर के हृदय में रामकथा की गंगा विद्यमान थी, पर भगवान् शंकर स्वयं कथा के रस में डूबे हुए थे। इसलिए रामकथा की गंगा प्रकट नहीं हुई। ऐसी स्थिति में कथा की गंगा को प्रकट करने का श्रेय भगवती उमा को है।

अब आइए! कथा में वक्ता और श्रोता के सन्दर्भ में कुछ प्रकाश डालें। वक्ता कैसा होना चाहिए तथा श्रोता कैसा होना चाहिए? गंगा रूपी कथा के वक्ता हैं भगवान् शंकर व श्रोता हैं पार्वतीजी। बहुधा ऐसा देखा गया है कि कथा की जितनी महिमा का वर्णन किया जाता है प्रत्यक्ष में उतना परिणाम नहीं दिखाई देता। इसका कारण यह हो सकता है कि या तो कथा के वक्ता में कोई कमी है या श्रोता में कोई कमी है या फिर वक्ता-श्रोता दोनों में ही कोई कमी है। श्रीरामचरितमानस में जहाँ सन्त-समाज प्रयाग का वर्णन किया गया है, उसमें गंगा को मूर्तिमती भक्ति की धारा बताया गया है—

राम भक्ति जहँ सुरसरि धारा।१/१/८

अब भगवान् शंकर के मस्तक पर से जो गंगा निकलीं वह मुक्तिदायिनी गंगा हैं; क्योंकि मस्तिष्क ज्ञान का केन्द्र है, इसलिए भगवान् शंकर के

मस्तक से जो गंगा निकलीं वह ज्ञानमयी हैं और भगवान् शंकर के हृदय से जो गंगा निकलीं—वह भक्तिमयी हैं। वस्तुतः हृदय भक्ति का केन्द्र है। भक्ति का मूल आधार क्या है? भक्ति की गंगा कहाँ प्रकट होगी? श्रीरामचरितमानस में इसका सूत्र दिया गया है कि—

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु॥६/९०/०

बिना विश्वास के भक्ति नहीं हो सकती। इस दृष्टि से विचार करने पर यह निश्चित रूप से प्रतीत होगा कि वक्ता के हृदय में जब भगवान् शंकर आकर विराजमान होंगे तभी कथा की गंगा प्रवाहित होंगी। अर्थात् कथावाचक अगर ग्रन्थों में पढ़ी या रटी-रटाई बात कह रहा है तो यद्यपि उसका भी महत्त्व है, उसके कहने में बुद्धि का बल तो है, पर वह जो कह रहा है उसे उसने आत्मसात् नहीं किया है, उसको उसका अनुभव नहीं है। स्वयं उसको इस पर विश्वास नहीं है, इसी को रामचरितमानस में काकभुशुण्डिजी कहते हैं—

कहेउँ न कछु करि जुगुति बिसेषी।६/९०/२

मैंने कोई तर्क या युक्ति का आश्रय लेकर वर्णन नहीं किया है, अपितु वे बड़े दावे के साथ आग्रह करते हैं कि—

यह सब मैं निज नयनन्हि देखी।७/९०/२

यह जो मैं कह रहा हूँ, उसको मैंने अपनी आँखों से देखा है। इसका अभिप्राय है कि हम जो सुनकर मानते हैं वह कान का सत्य है और जो देखकर मानते हैं, वह दृष्टि का सत्य है। और अगर दोनों का सामंजस्य हो जाय तब तो अति उत्तम है; क्योंकि सुना हुआ सत्य हो; पर देखा हुआ न हो, तो कभी-न-कभी सन्देह हो सकता है, कि ये बातें ठीक नहीं हैं। और अगर विचार करें तो दिखाई देने के बाद भी संशय हो सकता है, क्योंकि दृष्टि ही परम प्रमाण नहीं है। उदाहरण के रूप में यों कह सकते हैं कि हम सबने सूर्य देखा है। अगर कोई पूछ दे कि सूर्य कितना बड़ा है, तो हम सब कहेंगे कि थाली के समान है; क्योंकि हमें, आपको अपनी आँखों से तो वैसा ही प्रतीत हो रहा है। इसलिए सूर्य की विशालता दृष्टि का विषय नहीं है, वह विज्ञान का विषय है।

काकभुशुण्डिजी ने दोनों बातें कहीं। उन्होंने भगवान् शंकर तथा

महर्षि लोमश से कथा सुनी है, पर उनकी विशेषता यह है कि सुनने के साथ-साथ उन्होंने इसका प्रत्यक्ष अनुभव करके देखा। जैसे विज्ञान में भी होता है। एक तो विज्ञान के सिद्धान्त होते हैं और दूसरे विज्ञान में प्रयोग होता है। आधुनिक युग में भी पहले तो विद्यार्थी को विज्ञान के सिद्धान्तों की शिक्षा दी जाती है और पढ़ाए हुए उस सिद्धान्त को बाद में प्रयोगशाला में प्रत्यक्ष करके दिखाया जाता है। इसी प्रकार जो बुद्धि से समझाया गया सत्य है जब तक हृदय की प्रयोगशाला में उसको बिल्कुल स्पष्ट रूप से सिद्ध न कर दिया जाए, तब तक वह ज्ञान अधूरा है। सुनाने का उद्देश्य भी यही है कि सुनकर व्यक्ति के मन में उसको पाने तथा देखने की उत्कण्ठा और व्याकुलता जाग्रत् हो। जब हम कथा में भगवान् की महिमा, भगवान् का गुण, भगवान् का शील सुनते हैं, तो उस समय हमें एक बौद्धिक आनन्द तथा मनोरंजन की अनुभूति होती है। 'भगवान् बड़े शीलवान् हैं।' यह मात्र कथा का विषय रह जाय और भगवान् से हमारा परिचय न हो, तो उसके शील का हमें पता कैसे लगेगा? हमें तो उनके शील का पता तब लगेगा जब हमारे-आपके हृदय में यह अभिलाषा उत्पन्न हो कि हमारा भी प्रभु से परिचय हो जाता, तो देखते कि उनका शील कैसा है? इसलिए दृष्टि के लिये श्रुति की अपेक्षा और श्रुति के लिये दृष्टि की अपेक्षा है। दृष्टि यदि अनुभूति है तो श्रुति सैद्धान्तिक ज्ञान है, इसलिए दोनों का सामञ्जस्य आवश्यक है। रामचरितमानस में यदि काकभुशुण्डिजी 'नयनन्हि देखी' का दावा करते हैं तो कबीर भी अपनी अक्खड़ भाषा में यही कहते हुए दिखाई देते हैं–

तू कहता कागज की लेखी।
मैं कहता आँखिन की देखी॥

तुम वह कहते हो जो तुमने कागज में पढ़ा है और मैं वह कहता हूँ जो मैंने आँखों से देखा है। जब तुम कागज में लिखा हुआ सुनाते हो तो सामनेवाले को लगता है कि यह कह तो रहे हैं पर यह सही है भी कि नहीं? पर जब कोई व्यक्ति यह दावा करे कि यह सब मैंने अपनी आँखों से देखा है तब सुननेवाले के मन में विश्वास हो जाता है। संकेत के रूप में यों देखें कि भगवान् श्रीराम जनकपुर में आए हुए हैं। उनकी सुन्दरता का समाचार जनकपुर में चारों ओर फैल चुका है, पर श्रीसीताजी

के हृदय में दर्शन की उत्कण्ठा तब उत्पन्न होती है, जब वे कथा सुनती हैं। सौन्दर्य का वर्णन सुनती हैं और सुनानेवाली सखी वह है जिसने सुनाने से पहले श्रीराम का दर्शन किया है। यह मूल अन्तर है।

सर्वप्रथम श्रीसीताजी पुष्पवाटिका में जाती हैं, फिर सरोवर में स्नान करती हैं उसके पश्चात् वे पार्वतीजी की पूजा करती हैं, फिर कथा सुनती हैं और कथा सुनकर दर्शन के लिये चल पड़ती हैं और दर्शन के पश्चात् प्रभु को हृदय में धारण करके लौटती हैं। इस प्रकार इस प्रसंग में साधना का पूरा क्रम दिखाई देता है। इसी क्रम को अगर हम अपने जीवन में स्वीकार करें तो हमारी साधना ईश्वर की प्राप्ति, ईश्वर के साक्षात्कार पर समाप्त होगी। सबसे पहले वाटिका में जाने का अभिप्राय है, सत्संग में जाना–

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गयें बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥७/६२

सन्तसभा चहुँ दिसि अवँराई।
श्रद्धा रितु बसन्त सम गाई॥१/३६/१२

मानो सन्त समाज ही महाराज श्रीजनक की वाटिका है। प्रश्न यह है कि भगवान् राम वाटिका में किस ऋतु में गए। यद्यपि भगवान् श्रीराम के विवाह की तिथि अगहन शुक्ल पंचमी और बारात के लिये संकेत मिलते हैं कि–

प्रथम बरात लगन ते आई।
तातें पुर प्रमोदु अधिकाई॥१/३६/१२

बारात कार्तिक महीने में जनकपुर आ चुकी थी और बारात के बहुत पहले भगवान् राम आए हुए थे। इस प्रकार पूरे प्रसंग को पढ़ करके ऐसा लगता है कि श्रीरामभद्र पुष्प-वाटिका में शरद पूर्णिमा के दिन गये थे। इसलिए शरद ऋतु है। पर गोस्वामीजी बड़ी मीठी बात लिखते हैं। उन्होंने कहा बाहर चाहे कोई भी ऋतु क्यों न रही हो, पर वाटिका के भीतर ऋतु दूसरी है और वह है वसन्त ऋतु–

भूप बाग बर देखेउ जाई।
जहँ बसन्त रितु रही लोभाई॥२२६/३

बाहर जो ऋतु होगी वह परिवर्तनशील होगी, पर आपके भीतर की

ऋतु एक रस होनी चाहिए—केवल बसन्त ही बनी रहे। तुलसीदासजी ने कहा, मुझे तो लगता है कि इस वाटिका में बसन्त ऋतु लुभा करके रह गयी है। अभिप्राय यह है कि अन्य वाटिकाओं में तो दो महीने का बसन्त आता है; लेकिन महाराज श्रीजनक की वाटिका में बारहो महीना बसन्त ही रहता है। और यह बसन्त ऋतु क्या है? तो इसका परिचय देते हुए कहा कि—

श्रद्धा रितु बसन्त सम गाई।

श्रद्धा ही बसन्त ऋतु है। इसका सीधा-सा तात्पर्य है कि हृदय में भी यदि दो माह श्रद्धा रही और बाद में श्रद्धा मिट गयी तो भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती। वहाँ तो जो श्रद्धा आई तो जाने का नाम नहीं है।

इस क्रम में पहले तो सन्त-सभा और फिर न मिटनेवाली श्रद्धा तथा उसके पश्चात् सरोवर में श्रीसीताजी स्नान करती हैं। पहले सन्त के पास जाइए, सत्संग में जाइए और फिर सरोवर में स्नान करके अपने को स्वच्छ बनाइए। किन्तु, भई! यह सरोवर कौन-सा है? तो गोस्वामीजी कहते हैं—

सन्त हृदय जस निर्मल बारी।
बाँधे घाट मनोहर चारी॥३/३८/७८

सन्त का हृदय ही मानो सरोवर है। श्रद्धा लेकर सन्त के पास जाएँ और फिर इसके हृदय में प्रवेश करें। सन्त के हृदय-सर में स्नान करके अपने को पवित्र बनाएँ। बहुत बढ़िया बात गोस्वामीजी ने कही। किसी ने पूछा, महाराज! स्नान करके स्वच्छ तो वे हों, जिनमें गन्दगी हो—सत्संग में वे जाएँ, जो गन्दे हैं। गोस्वामीजी कहते हैं—देखा नहीं! श्रीसीताजी नहा रही हैं और श्रीकिशोरीजी की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि—

जनक सुता जग जननि जानकी।
अतिसय प्रिय करुनानिधान की॥
ताके जुग पद कमल मनावउँ।
जासु कृपा निरमल मति पावउँ॥१/१७/७

जिन श्रीसीताजी की कृपा से सांसारिक व्यक्ति की मति निर्मल होती है, वे श्रीसीताजी कहती हैं कि सन्त-सरोवर में स्नान करके मेरी बुद्धि भी

निर्मल होती है। इसलिए मुझे भी इसमें स्नान की आवश्यकता है। जहाँ इतनी महिमा है तो इस भ्रम में मत रहिए, यह अहंकार मत पाल लो कि हमको सत्संग में जा करके स्वच्छ होने की आवश्यकता नहीं है।

सन्त के हृदय में जब स्थान मिल जाएगा तब हमारा अन्तःकरण स्वच्छ होगा और उसके पश्चात् फिर पूजा की—

गई भवानी भवन बहोरी।
बंदि चरन बोली कर जोरी॥१/२३४/४

पार्वतीजी मूर्तिमती श्रद्धा हैं। श्रद्धा का एक रूप बसन्त है और दूसरा रूप पार्वती है। इनमें साधनात्मक श्रद्धा बसन्त ऋतु है और सिद्धा श्रद्धा पार्वतीजी हैं। बसन्त ऋतु, मानो आम के वृक्ष हैं, तो उसमें बौर लगेगा और वह धीरे-धीरे फल के रूप में परिवर्तित होगा, फल लगने के बाद रस आएगा, यही मानो साधना की पद्धति है। सबसे पहले आप सत्संग के लिये श्रद्धा का बसन्त लेकर वाटिका में गये और तब 'सम जम नियम फूल' सन्तों के द्वारा बताए गये नियमों का आप पालन करने लगे। यही मानो आम के वृक्ष में बौर आना है और इसके पश्चात् जब साधना बढ़ने लगी—सम, यम, नियम बढ़ने लगा तो मानो आम का फल भी धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है और जब वह पूरी तरह से बढ़ जाय तो उसका लक्षण है—

सम, यम, नियम फूल फल ज्ञाना।

पहले तो क्रिया के माध्यम से साधन किया जाता है, पर उसकी पूर्णता तब होती है जब क्रिया से ऊपर उठकर व्यक्ति ज्ञान में चला जाए, और वह केवल क्रिया करता रहे, ज्ञान प्राप्त न हो, तो उसकी साधना अधूरी है। इसलिए 'फल ज्ञाना' बताया गया है।

पर अब भी पूर्णता नहीं है—यद्यपि आम पूरा बड़ा हो गया; लेकिन जब तक कच्चा है तब तक उसमें मिठास कहाँ, तृप्ति कहाँ? और वह मिठास तब आवेगी जब आम पकेगा और पकेगा कब? तो सूत्र दे दिया कि—

हरि पद रति रस बेद बखाना। १/३६/१४

जब भगवान् के चरणों में प्रीति उत्पन्न हो जाए, तो समझ लीजिए कि आम का फल पक गया! इस प्रकार श्रद्धा का एक रूप यह है, जिसमें

क्रमशः पुष्प, फल तथा रस की प्राप्ति होती है। पर भगवान् श्रीराम ने बड़ा अनोखा कार्य यह किया। क्योंकि इस वाटिका में उन्होंने पहले फूल चुना। इसका संकेत यह है कि साधना क्रम में सबसे पहले फूल की ही आवश्यकता है।

दूसरी ओर सीताजी साक्षात् पराभक्ति हैं और वे जिन पार्वतीजी की पूजा करने जा रही हैं वे पार्वतीजी मूर्तिमती श्रद्धा हैं। अब अगर यह प्रश्न किया जाय कि श्रद्धा और भक्ति में से कौन श्रेष्ठ है? तो उसका उत्तर यही है कि एक दृष्टि से विचार करके देखिए तो श्रद्धा का फल भक्ति है और दूसरी दृष्टि से विचार करें तो लगेगा कि बिना श्रद्धा के भक्ति भी अधूरी रहेगी। यहाँ पर पार्वतीजी, श्रीसीताजी की स्तुति करें तो आश्चर्य नहीं, वह तो श्रद्धा के द्वारा भक्ति की स्तुति है, पर भक्ति रूपा सीताजी स्वयं पार्वतीजी के मन्दिर में जाती हैं तो आश्चर्य लगता है। किन्तु इसका कारण यह है कि पार्वतीजी ही श्रद्धा का सर्वोच्च रूप हैं। श्रद्धा का साधनात्मक रूप न होकर सिद्ध रूप हैं। साधनात्मक श्रद्धा में यह डर है कि श्रद्धा में कहीं बाधा न पड़े। जैसे आम का बौर आ जाने के बाद भी कई बार ऐसे रोग लग जाते हैं कि आम के फल झड़ जाते हैं, डालें भी टूट जाती हैं। इसी प्रकार से जब श्रद्धा साधनात्मक है तब तक यह डर है, हमारी साधना में बाधा न डाल दे, लेकिन श्रद्धा का सर्वोच्च रूप वह है जो पार्वतीजी के रूप में हमारे सामने आता है। अब आप भगवती पार्वती तथा सती इन दोनों की कथाओं को जोड़कर देखें।

भगवान् शंकर के हृदय से रामकथा-गंगा निकलीं और पार्वतीजी ने सुना, यही पार्वतीजी पिछले जन्म में सती थीं—सती बनकर वे रामकथा नहीं सुन पाईं और पार्वतीजी बनकर उन्होंने रामकथा सुन ली। सती बुद्धि हैं और कथा तो बुद्धि से ही सुनी जाती है। अगर आप बुद्धि लगाकर नहीं सुनेंगे तो बात समझ में नहीं आवेगी। पर केवल बुद्धि द्वारा कथा समझ में नहीं आ सकती जब तक कि बुद्धि में श्रद्धा न हो। यह सतीजी का पार्वती के रूप में जो पुनर्जन्म है, वही बुद्धि का श्रद्धा के रूप में बदलाव है। उसका श्रीगणेश कब होता है? जब सतीजी दक्ष का त्याग करती हैं और उनके यज्ञ में अपने शरीर को जलाकर भस्म कर

दिया, तब ये सती पार्वती बनीं। दक्ष को छोड़ने का अभिप्राय है कि बुद्धि अगर श्रद्धा बनना चाहती है, तो पहले अपनी दक्षता का अभिमान छोड़ दे। दक्ष से सम्बन्ध विच्छेद माने, अहंता और ममता की आहुति। दक्ष के प्रति सतीजी के मन में ममता भी थी और अहंता भी थी। मेरे पिता हैं, यह ममता और मेरे पिता तो प्रजापति हैं, सबसे बड़े हैं, ये अहंता है। इसी प्रकार हमें भी अपनी अहंता तथा ममता को, दक्षता के अभिमान को ध्वस्त कर देना है, जो कि बुद्धि का सबसे बड़ा दोष है। बुद्धिमान् व्यक्ति में बुद्धिमत्ता का अहंकार बहुत होता है। अपने को चतुर मान बैठने की भूल कर देता है। मानो पहला श्री गणेश यहीं से करना है कि दक्षता के अहंकार से हम मुक्त हुए कि नहीं? सती के पश्चात् पार्वती के रूप में हिमालय की पुत्री बनीं, इसका तात्पर्य है कि सती की बुद्धि की तीसरी समस्या है विचलन की और पर्वत के लिये संस्कृत में अचल शब्द का प्रयोग करते हैं। इसका अभिप्राय है कि विचलित होनेवाली जो बुद्धि है, जब वह हिमालय की कन्या हो जाएगी तो उसमें अडिगता तथा निष्ठा आ जाएगी। इनका भी पूर्वजन्म का संस्कार बदल गया और पिता (हिमालय) का संस्कार आ गया। इस सन्दर्भ में बहुत सुन्दर प्रसंग आता है।

हिमालय के घर में एक दिन नारद मुनि आते हैं। देवर्षि नारद श्रीसीताजी के जन्म के समय जनकपुर भी चले जाते हैं। उनका अभिप्राय है कि जहाँ श्रद्धा और भक्ति का उदय होता है वहीं जाने में जीवन की सार्थकता है। हिमाचल और मैना ने देवर्षि का स्वागत किया कि इसमें क्या-क्या दोष और गुण हैं? बड़े प्रसन्न होकर देवर्षि ने फल बताया और प्रशंसा करके कहा कि—

होइहि पूज्य सकल जग माहीं।
एहि सेवत कछु दुर्लभ नाहीं॥
एहि कर नामु सुमिरि संसारा।
त्रिय चढ़िहहिं पतिव्रत असिधारा॥
सैल सुलच्छन सुता तुम्हारी।१/६६/७

हिमालय तुम्हारी कन्या तो बहुत सुलक्षणा है। लेकिन—

सुनहु जे अब अवगुन दुइ चारी।

अब जो दो-चार अवगुण हैं वे भी सुन लो। यद्यपि कहा तो था दो-चार, पर जब गिनाने लगे तो बड़ी लम्बी सूची हो गई। उन्होंने कहा कि यह कन्या तो बड़ी गुणी है, पर इसका पति जो होगा, उसमें ये अवगुण होंगे—

अगुन अमान मातुपितु हीना।
उदासीन सब संशय छीना॥
जोगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल बेष।
अस स्वामी एहि कहँ मिलहिं परी हस्त अस रेखा॥१/६६/८

बस यहीं पर कथावाचक की आवश्यकता पड़ गई। नारद ने तो हस्तरेखा का फल बताया, परन्तु श्रद्धा के द्वारा जो तथ्य की व्याख्या होती है, उसका स्वरूप कुछ और होता है और साधारण व्यक्ति उसको कुछ और ही अर्थ देता है। मैना के रूप में जो बुद्धि थी, उन्होंने तो सीधा-सीधा अर्थ ले लिया कि मेरी कन्या के पति में ये-ये दोष होंगे। और उन्होंने अपना सिर पीट लिया कि महाराज! आपने क्या फल बताया? कन्या के सौभाग्य का सबसे बड़ा लक्षण तो पति ही है। पर जब आपने वर में इतने दोष बता दिए, तो अब क्या होगा? यह सोचकर मैना की आँख में आँसू आ गए। इतना ही नहीं, पार्वतीजी की आँख में भी आँसू आ गए। पूछा गया कि क्या दोनों ने एक ही अर्थ लिया? गोस्वामीजी ने एक वाक्य में अन्तर स्पष्ट कर दिया कि—

नारदहूँ यह भेदु न जाना।
दसा एक समुझ बिलगाना॥ १/६७/२

दशा तो एक थी, पर समझ अलग-अलग थी। मैना सोचती हैं कि जब वर में इतने दोष हैं, तो मेरी कन्या जीवनभर दुःखी ही रहेगी और पार्वतीजी सोचती हैं कि यह तो बहुत बढ़िया है। उन्होंने जो व्याख्या की वह तो कथावाचक की व्याख्या है। श्रद्धा से जब कोई देखता है तो उसको प्रतिकूलता में भी अनुकूलता की दृष्टि मिल जाती है। कथा का तत्त्व भी यही है। कथा केवल मंच पर बैठकर ही नहीं कही जाती है और मण्डप में बैठकर ही नहीं सुनी जाती है। वस्तुतः यह पूरा जीवन ही कथावाचक का मंच है और अगर आप सारी घटनाओं की व्याख्या कर सकें जैसा कि श्रद्धा से प्रेरित पार्वतीजी ने किया तो आपको दुःख कम-से-कम होगा।

मैना सोच रही हैं कि अगुण वह है जिसमें गुण नहीं है और पार्वती-रूपा श्रद्धा अर्थ लगा रही हैं कि—

महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेहि सन काम॥ १/८०/०

नारियों में सदा अवगुन भरे रहते हैं और कहीं अवगुणी का विवाह गुणी से हो गया तो झगड़ा हुए बिना नहीं रहेगा। इसलिए यह जोड़ी अच्छी रहेगी। मैं तो समझ रही थी कि मुझमें आठ ही अवगुण हैं, पर जब आपने बता दिया कि शंकरजी में नौ अवगुण हैं, तो हम दोनों के लिये इससे बढ़िया कोई सार्थक विवाह नहीं हो सकता। इस प्रकार वे नारदजी की बात सुनकर प्रसन्न हो रही हैं। तात्त्विक दृष्टि से पार्वतीजी की व्याख्या है कि गुण तो परिवर्तनशील हैं, इसलिए गुण के आधार पर अगर हम किसी वस्तु को स्वीकार करेंगे, तो वहाँ निराशा अवश्यम्भावी है। देवर्षि नारद कहते हैं कि वर मिलेगा वह अगुण होगा। पर श्रद्धा की व्याख्या है कि व्यक्ति तो अगुण हो ही नहीं सकता। व्यक्ति तो जब होगा तो गुण और दोष का मिश्रण ही होगा। इसलिए जब अगुण कह रहे हैं, तो यहाँ पर गुण का अर्थ ये सांसारिक गुण नहीं हैं। इसका अभिप्राय है कि जो गुणों से परे हैं वह अगुण है और गुणों से परे तो एकमात्र ईश्वर ही है, हमारे भगवान् शिव ही हैं। इसलिए बड़ी प्रसन्न हो गयीं और आँसू आ रहे हैं आनन्द के, पर मैना की आँखों में आँसू आ रहे हैं दुःख के।

अगुण के पश्चात् अमान शब्द है। अगुण, 'अमान' मैना ने 'अमान' का अर्थ लिया कि उस वर में बिल्कुल स्वाभिमान नहीं होगा। इसका भी अर्थ में लेने में पार्वतीजी की एक भिन्न दृष्टि है—यदि विचार करेंगे संसार में मानशून्य होता कौन है? वस्तुतः जिसने मान को जीत लिया उसने तो संसार के सबसे बड़े अवगुण को जीत लिया। अभिमानशून्य होने के बाद यदि कहीं व्यक्ति में हीनता की वृत्ति आ जाए, तो यह अवगुण है। वैसे दो प्रकार के व्यक्ति ही अभिमानशून्य होते हैं। एक तो वे लोग जो दीन-हीन, गए-बीते हैं, जिनमें हर तरह से दरिद्रता की वृत्ति छायी हुई है। ऐसे व्यक्ति में अभिमान यदि यत्किंचित् होता भी है, तो वह परिस्थिति के कारण दिखाई नहीं देता या फिर अभिमानरहित हो जाना तत्त्वज्ञ के लिये सम्भव है—

ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं।
देख ब्रह्म समान सब माहीं॥३/१४/७

सच्चा ज्ञान वही है जहाँ अभिमान का लेशमात्र भी न रह जाए। जब उन्होंने कहा कि दूल्हा मानरहित होगा, तो विनोद में पार्वतीजी ने कहा कि चलो अच्छा है। पति-पत्नी में झगड़ा अभिमान को लेकर ही होता है। इस सन्दर्भ में वह व्यंग्यात्मक घटना तो मुझे भूलती नहीं।

देहली में कथा हो रही थी। एक दम्पत्ति मुझे गाड़ी में बैठाकर कथा के स्थान पर ले गए। उस दिन कथा में अभिमान की व्याख्या कुम्भकर्ण के रूप में की गयी थी। और जब मैं गाड़ी में आकर बैठा तो पति ने मुझसे कहा, आपको कष्ट तो होगा, पर जब कुम्भकर्ण आ जाय तब चलें यहाँ से। उस समय उन्होंने कथा का सारा निष्कर्ष निकाला कि कुम्भकर्ण का पूरा लक्षण मेरी पत्नी में है। पर सबसे विचित्र दृश्य तब हुआ जब पत्नी ने आते ही कहा कि तुमने ध्यान से सुना, आज कथा में पूरा तुम्हारा ही वर्णन था। मानो पति समझ रहा है कि पत्नी बड़ी अभिमानी है और पत्नी समझ रही है कि पति बड़ा अभिमानी है। मुझे हँसी आ गयी और मैंने हँसकर कहा कि चलिए एक नया अनुभव हुआ। रामायण में राम और कुम्भकर्ण का युद्ध तो पढ़ा था, पर कुम्भकर्ण से कुम्भकर्ण का युद्ध तो आज ही देखने को मिला। वस्तुतः सारा संघर्ष परिवार तथा समाज में अभिमान को लेकर है। अगर स्वयं में उसका अनुभव हो तो समझौता हो सकता है, पर अभिमान सामने वाले में दिखाई दे और अपने में न दिखाई दे तो दोष दृष्टि ही प्रकट होती है। नारदजी ने कहा—

अगुन, अमान मातु-पितु हीना।

वर के माता-पिता दोनों नहीं होंगे। पार्वतीजी सोचने लगीं कि संसार में ऐसा कोई हो ही नहीं सकता जो माता-पिता-रहित हो। पर जब यह कह रहे हैं कि वर के माता-पिता नहीं होंगे, तब तो वह अजन्मा ब्रह्म ही हो सकता है, व्यक्ति तो किसी-न-किसी का पुत्र बनता है। इस प्रकार वे सारे लक्षण भगवान् शंकर में मिला रही हैं। वही एकमात्र अगुण हैं, अमान हैं, वही 'मातु-पितु हीना' हैं। नारदजी ने कहा कि निरन्तर उदासीन रहेगा। मैना ने अर्थ लिया कि उदासीन वृत्ति का हो, तो यह डर रहता

है कि वह कन्या के प्रति ध्यान ही नहीं देगा, अपनी उदासीनता में ही रहेगा। पर पार्वतीजी ने अर्थ यह लिया कि जो उदासीन है, उसको अपनी ओर आकृष्ट कर लेने में ही प्रेम की विजय है। इसलिए यह तो मेरी परीक्षा है कि जो भगवान् शिव लोक की ओर से उदासीन हैं, वे यदि मेरी ओर से रागी बन जाएँ, स्नेहयुक्त बन जाएँ, तो उसी में मेरे स्नेह की विजय तथा मेरा सौभाग्य है।

वर्णन आता है कि समुद्र से निकलने के बाद लक्ष्मीजी भी जयमाल लेकर जब अपने लिये योग्य वर देखने चलीं, उस समय जिस-जिस देवता-दैत्य के सामने वे गयीं उसके दोष और गुण का वर्णन उन्हें सुनाया गया। अन्त में जब विष्णु भगवान् के सामने गयीं तो उनमें अनेक दिव्यगुण दिखाई दिए। सखियों ने पूछा, इनमें तो गुण ही गुण हैं, कोई कमी तो दिखाई नहीं दे रही है। उन्होंने कहा, कमी तो नहीं, पर मेरे लिये एक चुनौती जरूर दिखाई दे रही है। क्योंकि मैं जिन-जिनके सामने गयी वे व्याकुल होकर मुझे पाने के लिये मेरी ओर देखने लगे। एकमात्र यह ही ऐसे हैं जिन्होंने मेरी ओर आँख उठाकर नहीं देखा। और अगर मैं इनकी कृपादृष्टि पा लूँ तो यह मेरी ही विजय होगी। ऐसा चाहकर जब वे प्रभु के चरणों की सेवा में बैठ जाती हैं तो भगवान् की दृष्टि उनकी ओर स्वाभाविक ही चली गई। उनकी भक्ति देखकर प्रभु का प्रसन्न होना सहज स्वाभाविक ही है।

उदासीनता पार्वतीजी को भयभीत नहीं बनाती। बल्कि वह तो उनको और भी प्रेरणा देती है। शंकर भगवान् उदासीन हैं, इससे उन्हें सन्तोष भी है कि संसार में अन्यत्र उनका कहीं आकर्षण नहीं। संसार में झगड़े की जड़ एक यह भी होती है, पर जिनकी दृष्टि कहीं जाती ही नहीं, उससे तो कोई आशंका ही नहीं है। फिर नारदजी ने 'संशय छीना'—कहा अर्थात् उनमें कोई संशय नहीं होगा। यहाँ संशय शब्द सशंक के अर्थ में प्रयोग किया गया। इसका अभिप्राय है कि समाज में व्यवहार करते समय व्यक्ति सावधान रहता है। सामाजिक मर्यादा के अनुकूल उसका व्यवहार होता है। अगर किसी व्यक्ति में पूर्ण निश्चिन्तता आ जाय कि हमें समाज की कोई परवाह ही नहीं, तो ऐसे व्यक्ति द्वारा मर्यादा का उल्लंघन होना स्वाभाविक ही है। गोस्वामीजी भी दोहावली में कहते हैं—

झूठे अघ सिय परिहरी, तुलसी साई सशंक॥

लोक मर्यादा का ध्यान रखने में व्यक्ति के जीवन में संयम तथा सावधानी आती है और मर्यादा का उदय होता है या फिर संशयमुक्त वे होते हैं जो जड़ हैं। जड़ में भला कैसा संशय? या फिर आशंकारहित वह होता है जिसका ज्ञान इतना परिपूर्ण है, जिनका विश्वास इतना बड़ा है जो सर्वत्र ब्रह्म का ही साक्षात्कार कर रहा है। जहाँ दूसरा दिखाई दे वहाँ चिन्ता करने की आवश्यकता है कि वे क्या समझेंगे; पर जहाँ सर्वत्र एक ही ब्रह्मतत्त्व दिखाई दे रहा हो, आत्मतत्त्व ही दिखाई दे रहा हो, वहाँ किसी भी प्रकार की कोई आशंका का स्थान नहीं है।

नारदजी ने कहा कि दूल्हा योगी होगा। अब समस्या यह है कि विवाह तो भोगी के लिये और दूल्हा मिल गया जोगी। याद रखिए बिना योगी बने कोई भोगी भी नहीं हो सकता, क्यों? योग माने मन की एकाग्रता और भोग में भी व्यक्ति को मन की एकाग्रता के बिना रसानुभूति हो ही नहीं सकती। इसीलिए ब्रह्म के वर्णन में एक ही पंक्ति में उसे एक साथ भोगी और योगी दोनों कहा गया—

आनन रहित सकल रस भोगी।
बिनु बानी वक्ता बड़ जोगी॥१/११७/६

भगवान् शंकर योगी भी हैं और भोगी भी हैं। भगवान् राम जब राजा हुए तो उनके सन्दर्भ में पूछा गया कि योगी हैं कि भोगी हैं—

श्रुति पथ पालक परम धुरन्धर।

वेद की मर्यादा का पालन करनेवाले श्रीराम से बढ़कर कर्मयोगी कौन होगा? सामनेवाले ने कहा, अच्छा तो फिर भोगी नहीं रहे होंगे। तुलसीदासजी ने कहा—

गुणातीत अरु भोग पुरंदर।

अगर उनके भोगों की ओर दृष्टि डालें तो इन्द्र का भोग भी उनके समक्ष फीका लगता है। यही तो कला है। मन की एकाग्रता का उपयोग चाहे आप ईश्वर में करें, चाहे संसार में, आजकल देश-विदेश में दोनों जगह योग का बड़ा महत्त्व है। पर समस्या यह है कि ये लोग योग चाहते भी हैं तो भोग के लिये हममें भोग भोगने की शक्ति अधिक काल तक रहे। हमारा शरीर स्वस्थ रहे, मन शान्त रहेगा, अधिक जिएँगे, पर ईश्वर

को पाने के लिये नहीं। अपितु हम जीवन के कितने अधिक विषयों का लाभ ले सकें। योगी शब्द सुन करके भले ही मैना को दुःख हो गया। लेकिन भगवान् शंकर से बढ़ करके कोई भोगी नहीं है। विवाह हो जाने के बाद शंकरजी क्या करते हैं—

करहिं बिबिध बिधि भोग बिलासा।
गनन्ह समेत बसहिं कैलासा॥१/१०२/५

कितने दिनों तक करते रहे हैं? उन्होंने कहा—

हर गिरिजा बिहार नित गयऊ।
एहि बिधि बिपुल काल चलि गयऊ॥१/१०२/६

न जाने कितने वर्ष बीत गए। पर लोग कहीं यह शिक्षा न ले लें कि शंकरजी भोगी हैं तो हमें भी ऐसे ही भोगी बनना है, इसलिए तुरन्त सावधान भी कर दिया। यहाँ पर तुलसीदासजी ने कालिदासजी से अलग मत प्रकट किया।

कालिदास ने भगवान् शंकर और पार्वतीजी के शृंगार वर्णन में एक अलग ग्रन्थ लिखा है—'कुमारसंभवम्'। बड़ा विलक्षण तथा बड़ा साहित्यिक ग्रन्थ है वह, पर तुलसीदास ने कहा कि भगवान् शंकर तथा भगवती पार्वती तो सारे संसार के माता-पिता हैं, उनके शृंगार का वर्णन मैं नहीं कर सकता हूँ—

जगत मातु-पितु संभु भवानी।
तेहि सिंगारु न कहउँ बखानी॥१/१०२/४

वस्तुतः बालक के लिये माता-पिता के भोग का अर्थ सांसारिक भोग न होकर माता-पिता की करुणा के प्रति ध्यान है कि इस भोग के माध्यम से ही माता-पिता ने मुझे जन्म दिया है। इनके ऋण से मैं मुक्त नहीं हो सकता। पुत्र के मन में माता-पिता के शृंगार से वासना की सृष्टि न होकर उनके प्रति समादर तथा कृतज्ञता की वृत्ति का उदय होता है। इसलिए पार्वती और मैना की दृष्टि में, श्रद्धा और बुद्धि की दृष्टि में अन्तर है। नारदजी ने आगे कहा कि—

जोगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल वेष।
अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि परी हस्त असि रेख॥१/६७/०

इसको जो वर मिलेगा वह जटाजूटधारी होगा और यह जटाजूटधारी

शब्द बहुत सुन्दर है। इस सन्दर्भ में मुझे एक प्रसंग स्मरण आ रहा है। भगवान् श्रीराम जब वन में गए, तो मुकुट उतार दिया। तो भई! राजा के सिर से जब मुकुट छिन गया तो मानो उसका पतन हो गया। क्योंकि जब तक सिर पर मुकुट है तब तक राजा है। और बाहर का मुकुट यदि लगाइएगा तो खिसकेगा और टेढ़ा होगा। दशरथजी ने जो मुकुट बाँध रखा था वह तो टेढ़ा हो ही गया। रावण ने जो मुकुट बाँध रखा था अंगद के मुक्के से यह मुकुट नीचे गिर पड़ा। पर शंकरजी के सिर का कभी न उतरनेवाला मुकुट है। इसलिए शंकरजी जब दूल्हे के वेश में जाने लगे, तो गणों ने कहा—सिर पर मौर तो बाँध लीजिए। शंकरजी ने कहा जो मौर बाँधकर वर बनेगा, वह दूसरे ही दिन वरत्व से उतरे बिना नहीं रहेगा। अपना वरत्व बाहरी वस्तुओं से नहीं है। वह तो अपनी ही विशेषताओं से है। इसलिए शंकरजी का वर्णन करते हुए कहा गया कि—

जटा मुकुट सीसनि सुभग कर भुज नयन बिसाल।
सरद परब बिधु बदन बर लसत स्वेद कन जाल॥२/१२५/०

उनका मुकुट हीरे-मोती और सोने का मुकुट नहीं है बल्कि जटाओं का मुकुट है। भगवान् श्रीराम भी जब वन जा रहे हैं, तो माँ ने पूछा, तुम तो कह रहे हो कि पिताजी ने तुम्हें जंगल का राज्य दिया है। किन्तु तुमने तो मुकुट उतार दिया। राजा मुकुट उतारता है कि पहनता है। प्रभु ने कहा, माँ! नकली मुकुट तो उतर गया, पर यह जो मेरी जटाओं का मुकुट है वह कभी उतरने वाला नहीं है। इसलिए यह सोने के मुकुट का राज्य अस्थिर है। उसके स्थान पर ये जटाएँ—जो तपस्या की प्रतीक हैं, वही स्थायी राज्य का मुकुट है। इसका अभिप्राय है कि इस मुकुट के खिसकने का, इस सत्ता के मिट जाने का अथवा इस मुकुट के नष्ट होने का कोई भय नहीं है और शंकरजी के पास वही जटाओं का शाश्वत मुकुट है। देवर्षि नारद ने आगे कहा कि वह नंगा रहेगा। अब भला सोचिए कि कन्या के माता-पिता पर क्या प्रभाव पड़ेगा? जिस दूल्हे से अपनी पुत्री का विवाह करने जा रहे हैं; उसके पास पहनने के लिये कपड़े नहीं हैं, यह जानकर कौन माँ-बाप विवाह करेंगे? नारदजी कह रहे हैं कि दूल्हा नंगा होगा। गोस्वामीजी ने शंकरजी के नंगे स्वरूप को लेकर बहुत बढ़िया व्यंग्य दिया है। किसी व्यक्ति ने शंकरजी के विषय में सुना

कि बड़े उदार हैं, बड़े दानी हैं—

दानी कोऊ शंकर सम नाहीं। —विनयपत्रिका

तो लगा शंकरजी की पूजा करने। एक दिन उसकी पूजा से प्रसन्न होकर शंकरजी प्रकट हो गये और प्रकट होकर कहा—वरदान माँगो। अब समस्या यह है कि वह बोल ही नहीं रहा है, चुप है। शंकरजी ने पूछ दिया, चुप क्यों हो? बोले, महाराज! मैंने बुलाया तो आपको माँगने के लिये था, पर आपको देखकर मुझे सोचना पड़ रहा है कि आपसे माँगूँ कि आपको दूँ। कोई यदि बढ़िया वस्त्र धारण किए हो तो मन होता—उससे माँगें, पर कोई नग्न व्यक्ति को देखकर थोड़े ही हाथ फैलाता है। इसलिए महाराज! अब आपसे क्या माँगें? उसका शब्द सुनकर शंकरजी हँसने लगे। उन्होंने कहा, भाई! तुम दो दृष्टि से विचार करो। एक तो यहाँ पर तुलसीदासजी ने शंकरजी का नाम रखा 'नंगा'—

नाँगो कहै जग माँगनो देखि, न खाँगो कछु, जनि माँगियो थोरो।

नंगे ने कहा, यहाँ कोई कमी नहीं है। और याद दिला दिया कि जब तुम दानी समझ रहे हो, तो ध्यान क्यों नहीं देते हो कि संसार के दानी दान तो करते हैं पर उनको यह चिन्ता अवश्य होती है कि अपने लिये भी कुछ बचा लें तब दान दें, पर जिसको अपने लिये कपड़ा तक नहीं चाहिए, घर तक नहीं चाहिए, वह अपने लिये क्या रखेगा? वह तो देगा ही देगा। इसलिए तुम्हें तो निश्चिन्त हो जाना चाहिए और साथ-साथ कह दिया कि जिसके पास तो होगा वही देगा। पर मुझ नग्न को देखकर तुम्हारी यह इच्छा हो जाय कि इनसे वस्त्र-आभूषण न माँगें, वह तो स्वयं धारण नहीं करते; अतः इसके बदले यदि मुझसे भक्ति माँग लो तो इससे बढ़कर तुम्हारा कोई सौभाग्य नहीं हो सकता। इस प्रकार भगवान् शंकर के समग्र वेश की व्याख्या यद्यपि दो जनों ने की, पर पार्वतीजी ने जो अर्थ लिया, उस अर्थ को नारदजी भी पूरी तरह से नहीं समझ पाए थे—

नारदहूँ यह भेदु न जाना।
दसा एक समुझब बिलगाना॥

श्रद्धावृत्ति का अभिप्राय है कि जहाँ ऐसी दृष्टि है कि प्रतिकूलता में भी जिन्हें शिव का दर्शन होता रहे—(शिव माने कल्याणकारी, सुन्दर) क्योंकि कोई जीवन तो ऐसा हो ही नहीं सकता जहाँ जीवन हो, पर मृत्यु

न हो अथवा जहाँ लाभ हो, पर हानि न हो। वस्तुतः यह सृष्टि तो द्वन्द्व से बनी हुई है। क्या ऐसा सम्भव है कि कोई रात्रि मिटा दे? क्योंकि सत्ता तो दोनों की ही रहेगी, रात भी रहेगी और दिन भी रहेगा। ऐसी स्थिति में अगर कोई व्यक्ति अनुकूलता में ही शिव को देखेगा तो उसकी श्रद्धा नहीं टिकेगी। अगर धन मिल गया तो गद्‌गद हो रहे हैं शंकरजी बड़े अच्छे देवता हैं और यदि किसी की मृत्यु हो गयी तो बस हटाओ इनको इनकी इतनी पूजा की, फिर भी मृत्यु हो गई? लेकिन भाई! आप पहले से नहीं जानते थे कि वे मृत्यु के भी देवता हैं। अगर उन्होंने यह छिपाया होता तब तो आप उलाहना देते, पर उनका तो परिचय यही कहकर दिया जाता है कि वे मृत्यु के देवता हैं। काकभुशुण्डिजी के गुरु ने वन्दना करते हुए यही कहा—**'करालं महाकाल कालं'** पर उसके साथ अगला शब्द बहुत बढ़िया जोड़ दिया—**'करालं महाकाल कालं कृपालं'**। हे कृपालु, आप कराल महाकाल के काल हैं। इस शब्द में विचित्र विरोधाभास लगता है। किसी को देखकर कोई कहे भयंकर सुन्दर है तो बड़ा विचित्र लगेगा। क्योंकि भाई! सुन्दर है तो फिर भयंकर कैसे और यदि भयंकर हैं तो सुन्दर कैसे? पर भगवान् शंकर 'करालं' भी हैं और 'कृपालं' भी हैं। इसका अभिप्राय है कि उनको ऐसी दृष्टि मिल जाय कि करालता में भी जब कृपालुता दिखाई दे। प्रतिकूलता में भी अनुकूलता दिखाई दे। शंकरजी मृत्यु के देवता हैं। और उसके साथ एक और सुन्दर सूत्र उन्होंने दिया।

जहाँ रहना कोई पसन्द नहीं करेगा। श्मशान में जाना तो व्यक्ति की लाचारी है, पर शंकरजी के लिये कहते हैं कि वे श्मशान में रहते हैं और चिता की राख शरीर में लगाते हैं। मानो इन दोनों कार्यों के द्वारा वे अपने भक्तों की मृत्यु का भय छुड़ाते हैं। शंकरजी से किसी ने पूछ दिया, महाराज! आपने श्मशान में घर क्यों बना लिया? शंकरजी ने कहा—भाई! और जितने घर होते हैं उनसे कभी-न-कभी निकलना पड़ता है। श्मशान ही एक ऐसा है जो किसी को निकालता नहीं है। इसलिए ऐसे स्थान से तो हमेशा डरना चाहिए जो अपने स्वार्थ के लिये तो किसी को रखे और बाद में निकाल दे और जब कहा जाता है कि चिता की राख को शरीर से लपेटते हैं, तो यह कितनी बढ़िया बात है? हमें इतना ही दिखाई पड़ता

है कि मृत्यु आई और उसमें हमें कष्ट होता है। मन में आतंक की सृष्टि होती है। पर यदि यह दिखाई देने लगे कि भस्म हो जाने के बाद इस शरीर की राख को भगवान् शिव अपने शरीर पर धारण कर लेंगे, तो भय मिट जाएगा। भगवान् शिव से व्यक्ति ने पूछा कि राख बन जाने के बाद मुझे क्यों लपेटा? तो उन्होंने कहा, भाई! जब तक तुम कामधाम में फँसे हुए थे, तब तक मुझसे दूर थे अब धाम भी तुमसे दूर हुआ और काम भी तुमसे दूर हुआ। इसलिए आओ, अब हम तुम एक होकर आनन्द मनावें। इसका अभिप्राय है कि जीवन की अनुकूलता में तो प्रत्येक व्यक्ति आनन्द लेता है, उसके लिये रोक नहीं है, पर प्रतिकूलता में भी श्रद्धा की वृत्ति अखण्ड बनी रहना, यही पार्वती की वृत्ति है। इसी वृत्ति की कमी से आगे चलकर मैना शिव को देखकर विचलित हो जाती है।

जब वे शंकरजी का स्वागत करने के लिए, स्वर्णथाल में आरती लेकर चलीं और उन्होंने दूल्हे के शरीर पर साँपों को लिपटा देखा तथा मैना को देखकर सर्प और भी जोर-जोर से फुँफकार करने लगे, तो ऐसे दूल्हे की आरती कौन उतारे? उन्होंने थाल पटक दिया और रोती हुई भीतर चली गयीं। उस समय उन्होंने शंकरजी को तो बुरा-भला कहा ही, पर साथ में नारदजी पर भी बरस पड़ीं और यहाँ तक कह दिया कि—

साचेहुँ उन्ह के मोह न माया।
उदासीन धनु-धामु न जाया॥
पर घर घालक लाज न भीरा।
बाँझ कि जान प्रसव कै पीरा॥१/९६/३

वैसे सास को तो घण्टे दो घण्टे दूल्हे के साथ रहना है, किन्तु पत्नी को तो जीवन भर रहना है। इस हिसाब से सबसे अधिक आतंक तो पत्नी को होना चाहिए कि जहाँ पर इतने साँप लिपटे हुए हैं, वहाँ जा करके मैं करूँगी क्या? परन्तु विचित्रता यह है कि मैना दुःखी हैं तथा पार्वतीजी प्रसन्न हैं। मैना यह सोचकर दुःखी हैं कि साँप लपेटे हुए है तो वह तो पागल है, ऐसे वर को कन्या कौन देगा? पर जब पार्वतीजी से पूछा गया कि आपकी माँ तो रो रही हैं, किन्तु आपको साँप से आतंक क्यों नहीं लगता? तो उन्होंने कहा—वस्तुतः माँ को तो प्रसन्न होना चाहिए था, पर लगता है माँ ने दूर तक विचार नहीं किया। क्योंकि सर्प है काल और

प्रत्येक स्त्री यही चाहती है कि उसकी पुत्री का सौभाग्य बना रहे। अगर माँ ने ध्यान से देखा होता कि उन्हें तो ऐसा जामाता मिला है जो काल को आभूषण बनाए हुए है, तो निश्चिन्त हो जातीं कि इससे बढ़िया दूल्हा कोई नहीं हो सकता। काल भी जिसका आभूषण है वहाँ मृत्यु का तो कोई भय या आतंक है ही नहीं। यही दृष्टि का अन्तर है। सर्प तो वही है पर सर्प का तात्पर्य क्या है? यह कथा की बात है। कथावाचक की भूमिका यही है कि वह सर्प में क्या-क्या देख लेता है? इसी प्रकार आप अच्छे से अच्छा अर्थ जो ले सकें, ले लीजिए। अगर आप में श्रद्धा होगी, तो उसमें भी आपको नए-नए अर्थों की अनुभूति होगी।

शंकरजी ने साँप का कुण्डल पहना है अब कोई जिज्ञासु अगर यह प्रश्न करे कि—शंकरजी साँप का कुण्डल क्यों धारण किए हैं, तो एक अर्थ इसका यह भी लिया जा सकता है कि ज्ञानी कहता है कि संशय तो सर्प है और सर्प बड़ा विषैला है, पर फिर भी शंकरजी ने उस विषैले सर्प को कान में आभूषण बना लिया है। इसका तात्पर्य है कि कान में अगर भगवान् की कथा जाती रहे, तो संशय भी दूषण नहीं रह जाता, अपितु भूषण बन जाता है। इसका सीधा-सा अभिप्राय है कि कथा तो संशय के आधार पर होती है। संशय के उत्तर में ही सारी रामकथा कही गयी है। शंकरजी ने मानो कहा कि संशय के साथ-साथ अगर भगवान् का गुण जुड़ जाय तो संशय, दूषण न रहकर भूषण बन जाएगा। इसी तरह से भगवान् शंकर के मस्तक पर सर्प का मौर है। काम का सर्प भगवान् शंकर सिर पर बाँधे हुए हैं। वैसे बड़ी प्रसिद्ध परम्परा है कि यदि अँधेरे में साँप काट ले और यह पता न चले कि साँप ने काटा है अथवा किसी अन्य जन्तु ने तो उस व्यक्ति को नीम की कड़वी पत्ती खिलाई जाती है, अगर उसे पत्ती कड़वी लगे तो लोग निश्चिन्त हो जाते हैं कि साँप ने नहीं काटा है किसी और जन्तु ने काट लिया है। पर अगर नीम की पत्ती में मिठास का अनुभव हो, तो लोग समझ लेते हैं कि निश्चित रूप से साँप ने ही काटा है। तुलसीदासजी से किसी ने कहा, महाराज! आप लोग विषयों की निन्दा करते हैं, किन्तु हमें विषय मीठे लगते हैं। आपके भाषण को हम मानें, कि अपने अनुभव को मानें! तुलसीदासजी ने तुरन्त कहा—कि अगर मीठे लगते हैं तब और भी सावधान हो जाओ, क्योंकि—

काम भुजंग डसत जब जाही।
विषय निंब कटु लगत न ताही॥

काम सर्प जिसको डँसता है उसी को विषय का पत्ता मीठा लगता है। यह सोचकर प्रसन्न मत हो जाओ कि आज तो नीम भी मीठी लग रही है। पर भगवान् शंकर से पूछा गया कि आपने जीवन में काम को स्वीकार किया कि नहीं, क्योंकि काम तो दुर्गुण ही है, संशय दुर्गुण है, लोभ दुर्गुण है, क्रोध दुर्गुण है और शंकरजी ने सारे दुर्गुणों को आभूषण बना लिया। उन्होंने मानो संकेत यह दिया कि मस्तक पर ही जब रामभक्ति की गंगा बह रही है तो फिर काम का मौर हमारा क्या करेगा? अगर भक्ति की गंगा विद्यमान है तो काम से कोई भय नहीं है, क्योंकि वह काम भी भक्ति की दिशा में मुड़ जाएगा।

पार्वती के जीवन में श्रद्धा की जो वृत्ति दिखाई देती है उसकी सबसे कड़ी परीक्षा आगे चलकर होती है। "शंकर ने काम को जला दिया"—सप्तर्षियों को यह विश्वास था कि यह सुनकर पार्वती बिल्कुल निराश हो जाएँगी—कि मैं इनसे विवाह करना चाहती थी और विवाह का आधार तो काम है, पर जब काम को ही जला दिया गया, तो ऐसे व्यक्ति से विवाह करने का क्या प्रयोजन है, क्या लाभ है? यह श्रद्धा की अन्तिम परीक्षा थी। पर जिस समय सप्तर्षियों ने पार्वतीजी को सुनाया तो पार्वतीजी ने पहला वाक्य कहा—

तुम्हरें जान कामु अब जारा।
अब लगि संभु रहे सबिकारा॥१/८६/२

आपका अर्थ तो यह हुआ कि शंकरजी ने आज काम को जलाया, मतलब अब तक कामी रहे होंगे। यह भ्रम तो आप लोगों का ही था। परन्तु—

हमरे जान सदा सिव जोगी।
अज अनवद्य अकाम अभोगी॥१/८६/३

हमें तो बचपन में ही बता दिया गया था कि तुम्हें योगी, उदासीन पति मिलेगा। इसका अभिप्राय यह है कि अगर श्रद्धा में जरा भी कमी होगी तो कामना की पूर्ति न होने पर, काम के जल जाने पर, श्रद्धा विचलित हो जाएगी। सप्तर्षियों ने कहा—हम यह नहीं कह रहे हैं, अब लोगों का यह कहना कि शंकरजी ने आज काम को जलाया, हम तो केवल

घटना की सूचना दे रहे हैं और तब पार्वतीजी ने सप्तर्षियों को उपदेश दिया—शंकरजी के द्वारा काम को जलाने का अर्थ केवल इतना ही है—

तात अनल कर सहज सुभाऊ।
हिम तेहि निकट जाइ नहीं काऊ॥१/८९/७

जहाँ आग जलती है, वहाँ शीतलता जाती ही नहीं और जाएगी तो नष्ट हो जाएगी। शंकरजी तो सदा काम-रहित थे, काम दूर रहता था, तो बचा था। पास में गया तो जलकर भस्म हो गया। इसके द्वारा शंकरजी में कोई परिवर्तन नहीं आया, यह तो काम की ही नासमझी थी कि वह शंकरजी के सामने गया। इसका सीधा-सा तात्पर्य है कि आदर्श वक्ता वह है जिसमें विश्वास है और श्रोता वह है जिसमें पूर्ण श्रद्धा है। शंकरजी के हृदय से जो कथा गंगा निकलीं, उनकी निमित्त पार्वतीजी बनीं—यहाँ पर यही संकेत है।

पुष्पवाटिका प्रसंग में श्रीसीताजी, पार्वतीजी का पूजन करती हैं। मानो सिद्धा श्रद्धा की पूजा भक्ति द्वारा की गई। उस समय एक सखी ने आकर भगवान् की सुन्दरता का वर्णन सुनाया। सखी ने वर्णन करते हुए कहा—

देखन बागु कुँअर दोउ आये।
बय किसोर सब भाँति सुहाये॥
स्याम गौर किमि कहौं बखानी।
गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥
सुनि हरषीं सब सखीं सयानी।
सिय हियँ अति उत्कंठा जानी॥१/२८७/७

किन्तु श्रीराम के सौन्दर्य का वर्णन करने से पहले तुलसीदासजी ने उस सखी की दशा का वर्णन करते हुए कहा कि—

एक सखी सिय सँग बिहाई।
गई रही देखन फुलवाई॥
तेइ दोउ बंधु बिलोके जाई।
प्रेम बिबस सीता पहँ आई॥
तासु दसा देखी सखिन्ह पुलक गात जल नैन।
कहु कारण निज हरष कर पूछहिं सब मृदु बैन॥१/२२७/७

उस सखी के शरीर में रोमाञ्च हो रहा है। नेत्रों में आँसू हैं। और यह बहुत सुन्दर सूत्र है। इसके द्वारा वर्णन सुनकर श्रीकिशोरीजी के अन्तःकरण में दर्शन की उत्कण्ठा हुई। श्रीसीताजी का तात्पर्य यह था कि सुन्दरता का वर्णन तो हमने भी सुना था, पर अभी तक हमारी किसी विश्वस्त सखी ने देखकर दावा नहीं किया कि मैंने भी देखा है। और जब इस सखी ने कह दिया, तो अवश्य देखना चाहिए। जिसका वर्णन करते समय, इसकी ऐसी दशा हो गई, तो उसको देखने के बाद हम लोगों की क्या दशा होगी? कितनी उत्कृष्ट उपलब्धि होगी? तब श्रीसीताजी उसी सखी को आगे करके भगवान् श्रीराम का दर्शन करती हैं। इसका क्या अभिप्राय है? वस्तुतः वक्ता कौन है? शिव हैं और शिव हैं मूर्तिमान् विश्वास। जो कह रहा है वह केवल ग्रन्थ का सत्य न होकर; उसकी आँखों का देखा हुआ, उसका अनुभव किया हुआ सत्य है—इनके शब्दों में बल होता है, आत्मविश्वास होता है। जो कुछ कहते हैं, अनुभूति के द्वारा कहते हैं और दूसरी ओर जब पार्वतीजी के समान श्रद्धावृत्ति का उदय हुआ तब शंकरजी के हृदय से रामकथा की गंगा निकलीं। भगीरथ के रूप में श्रद्धारूपी पार्वती ने इस कथा को प्रकट किया और यह कथा धीरे-धीरे बहती हुई पतित पावनी के रूप में सबका उद्धार करती है।

तुलसीदासजी ने किसी से पूछ दिया। आप कथा किसको सुना रहे हैं। उन्होंने कहा, भाई! मैं किसी अन्य को नहीं सुना रहा हूँ। मैं तो अपने मन को सुना रहा हूँ। अच्छा महाराज! यह बताइए कि आपके मन में क्या विशेषता है। क्या इसमें पार्वतीजी की तरह श्रद्धा है? वे कहने लगे श्रद्धा तो नहीं है, बस इसमें तो एक ही विशेषता है कि यह दुष्ट है। वे कहते भी यही हैं कि—

'सुनहि, सन्तत सठ मना' अरे दुष्ट मन तू सुन! किसी ने पूछ दिया—शंकरजी कह रहे थे कि—**'यह न कहिअ सठहीं'**—दुष्ट को मत सुनाना, श्रद्धालु को सुनाना और आप लगे दुष्टों को सुनाने। उन्होंने कहा भाई! शंकरजी का भी कहना बिल्कुल ठीक है और मैं भी ठीक कह रहा हूँ। क्योंकि हिमालय में गंगा को पाने के लिये तो बिरले व्यक्ति ही जा सकते हैं, पर पतित पावनी तो वे तभी कहलावेंगी जब नीचे उतरकर पतितों का उद्धार करेंगी। इसलिए श्रद्धा को निमित्त बना करके रामकथा

की गंगा प्रवाहित होती है। किन्तु श्रद्धायुक्त लोगों से प्रारम्भ करके जो श्रद्धारहित भी हैं—वे भी अगर श्रवण करें तो उनको भी पवित्र करके धन्य बनाती हैं। यह है रामकथा की गंगा, किन्तु इन गंगा की धारा मन्दाकिनी के लिये एक और पात्र की आवश्यकता है। केवल पार्वतीजी की ही नहीं, अपितु अनसूयाजी की भी आवश्यकता है और हमारे जीवन में मन्दाकिनी के रूप में गंगा कैसे बहती हैं? इसकी चर्चा कल करेंगे।

□

॥ श्रीरामः शरणं मम॥

षष्ठ प्रवचन

रामचरितमानस में भगवान् श्रीराम की कथा की तुलना विभिन्न नदियों से की गयी है। और यदि स्थूल दृष्टि से देखें, तो यद्यपि सभी नदियों में जल ही प्रवाहित होता दिखाई देगा; लेकिन अगर उनके जल को आप अलग-अलग पियें या प्रयोग करें, तो आपको उनमें कुछ-न-कुछ भिन्नता की प्रतीति होगी। विभिन्न नदियों के जल के रंग में भिन्नता होती है, स्वाद में भी भिन्नता होती है और परिणाम में भी भिन्नता होती है। इसी प्रकार बहिरंग दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि जैसे एक ही कथा विभिन्न वक्ताओं के द्वारा कही जा रही है, पर अगर गहराई से दृष्टि डालें, तो ऐसा लगेगा कि उस कथा में भिन्न नदियों का स्वाद है और उसका परिणाम भी अलग-अलग है। इस सन्दर्भ में आपके सामने रामकथा की गंगा का रूप प्रस्तुत किया गया। यह श्रीरामकथा की जो गंगा हैं, उसी से एक और कथारूपी नदी प्रवाहित हुई और वही मन्दाकिनी है। रामचरितमानस में मन्दाकिनी का परिचय यही कहकर दिया गया है कि—

सुर सरि धार नाउँ मन्दाकिनि।
जो सब पातक पोतक डाकिनि॥

और यह मन्दाकिनी चित्रकूट में प्रवाहित होती है। इसलिए आइए! पहले तो चित्रकूट की ओर दृष्टि डालें।

एक ओर है चित्रकूट का वन और दूसरी ओर है दण्डकारण्य का वन। दोनों वनों में जो भिन्नता है सम्भवतः उस पर आपकी दृष्टि गयी होगी। चित्रकूट में अत्रि और अनसूया का निवास तथा दण्डकारण्य में त्रिशिरा और शूर्पणखा का निवास है। चित्रकूट की तुलना चित्त से की

गयी और नामवन्दना प्रसंग में दण्डकारण्य की तुलना मन से की गयी है–

दंडक बनु प्रभु कीन्ह सुहावन।
जन मन अमित नाम किए पावन॥१/२३/७

इस प्रकार चित्त (चित्रकूट) और मन (दण्डकारण्य) है। चित्रकूट की भूमि मिलन की भूमि है और दण्डकारण्य की भूमि वियोग की भूमि है। चित्रकूट में श्रीभरत का श्रीराम से मिलन होता है, अयोध्यावासियों का श्रीराम से मिलन होता है, कोल-किरातों और मुनियों का मिलन होता है। इसे यों कह लीजिए कि चित्रकूट के सारे प्रसंग में मिलन का अद्भुत रसमय वर्णन पढ़ने को मिलता है, परन्तु दण्डकारण्य वह वन है जहाँ पर श्रीसीताजी का भगवान् राम से वियोग होता है और यहीं पर भगवान् शंकर मन ही मन सतीजी का परित्याग करते हैं। यह तो हुआ बाह्य अन्तर। अब आइए! इसके आन्तरिक रहस्य पर एक दृष्टि डालें।

एक ओर त्रिशिरा है और दूसरी ओर अत्रि हैं। 'त्रि' अक्षर या 'तीन' दोनों में है। पर एक में 'अत्रि' तीन का अभाव है और एक 'त्रिशिरा' में तीन सिर हैं या उसका नाम तीन सिरवाला (त्रिशिरा) है। मन रूपी दण्डकारण्य में खर है, दूषण है और त्रिशिरा है। इस प्रकार ये मन की तीनों वृत्तियाँ हैं। मन की खर वृत्ति, मन की दूषण वृत्ति तथा मन की त्रिशिरा वृत्ति। खर माने गधा! और गधा बोझ ढोने में बड़ा निपुण होता है। किन्तु वह किस वस्तु को पीठ पर लादे हुए है; इसका उसको कोई पता नहीं रहता। चाहे आप उसकी पीठ पर चन्दन की लकड़ी लाद दीजिए और चाहे गन्दा कूड़ा लाद दीजिए। वह तो दोनों को समान रूप से ढोता है। और मन की भी यही वृत्ति है कि वह गुण और दोष दोनों को ढो रहा है और ढोने का तात्पर्य यह है कि गुण और दोष निकट होने पर भी उसका जो लाभ या उससे जो हानि होनी चाहिए वह नहीं है। अर्थात् यदि हम ज्ञान को भी बोझ बनाकर लाद लें तो वह ज्ञान हमें थकान की ही अनुभूति करावेगा। अगर कोई वस्तु हम सिर पर लादें, उससे कोई लाभ न लें, तो वह मात्र ढोना होगा और परिणामतः थकान होगी। अंगद ने रावण की तुलना गधे से इसी रूप में की थी।

जब रावण ने अंगद से सभा में यह कहा कि मैंने कैलास पर्वत को

उठा लिया। मेरी भुजा पर कैलास पर्वत के सहित शंकरजी भी सुशोभित हुए। मैं इतना बड़ा पुजारी हूँ कि अन्य लोग तो पुष्पों के द्वारा शंकरजी की पूजा करते हैं, पर मैंने तो–

सिर सरोज निज करन्हि उतारी।
पूजेउँ अमित बार त्रिपुरारी॥७/२४/३

मैंने अपने सिर को कमल बनाकर उन्हें अपने हाथों से भगवान् शंकर को बार-बार अर्पित किया। क्या विश्व के इतिहास में कैलास को उठानेवाला और सिर काटकर चढ़ानेवाला रावण को छोड़कर कोई दूसरा व्यक्ति मिला है? उस समय यद्यपि अंगद ने बात तो व्यंग्य में कही, पर यह बिल्कुल सही थी। उन्होंने कहा कि तुमने अपनी जो विशेषताएँ बताईं उनसे मैं समझ गया कि तुममें दोनों का मिश्रण है। इसलिए तुम्हारी तुलना दोनों से ही की जा सकती है। रावण ने जानना चाहा किससे? तो उन्होंने कहा, एक तो गधे से और दूसरे पतंगे से।

जरहिं पतंग मोह बस भार बहहिं खर बृंद।
ते नहिं सूर कहावहिं समुझि देखु मतिमंद॥६/२६/०

यहाँ पर उन्होंने रावण की तुलना गधे से जो कर दी, वह बहुत सार्थक तुलना है। उनका अभिप्राय है कि जब तुमने कैलास पर्वत को सिर पर उठा लिया, उस समय यदि तुम्हें यह ज्ञान हो जाता कि मेरे सिर पर कौन है–वस्तुतः शंकरजी तो मूर्तिमान् विश्वास हैं और उसकी अनुभूति होने पर यदि तुम्हारे सिर में विश्वास आ जाता, तब तो तुम धन्य हो जाते। पर बड़ी उल्टी-सी बात है कि शंकरजी को सिर पर धारण करनेवाले के मन में इतना संशय है कि वह ईश्वर के रूप को ही नहीं समझ पा रहा है और एक क्षण के लिये अगर ऐसा लगा भी तो उसने उसको अस्वीकार कर दिया, तो बताओ कैलास पर्वत ढोने से तुम्हें क्या मिला? जब विश्वास मिला ही नहीं, तो तुम्हारी स्थिति बिल्कुल गधे जैसी है। तुम्हारे सिर पर चाहे शिव थे या अन्य कोई वस्तु होती किन्तु तुम्हारे जीवन पर उसका कोई प्रभाव नहीं है। इसलिए मैं तुम्हारी तुलना गधे से करना चाहूँगा।

दूसरा वाक्य उन्होंने कहा कि तुमने सिर काट करके अग्नि में चढ़ाया, तो क्या हुआ? रावण कहता है–मेरे नए सिर फिर से निकल आए। अंगद

ने कहा, अगर किसी को कोई वस्तु भेंट करें और वह व्यक्ति उसे ज्यों-की-त्यों लौटा दे तो उसकी प्रसन्नता हुई कि अप्रसन्नता हुई? तुमने शंकरजी को सिर काट करके चढ़ाया, इसके बदले में अगर भगवान् शंकर ने तुम्हें भक्ति दी होती तो उसमें धन्यता थी। वैसे शंकरजी तो सिर बदलने की कला में निपुण हैं। दक्ष का सिर कटवाया तो नया जोड़ दिया, बेटे गणेश का भी सिर काटा तो उस पर भी नया सिर जोड़ दिया, पर बड़ी विचित्र-सी बात है कि तुम्हारा सिर कटा तो उन्होंने नया सिर नहीं जोड़ा। अगर उन दोनों की तरह तुम्हारा भी सिर शंकरजी ने बदल दिया होता, तो यह अनर्थ तुम बिल्कुल नहीं करते। वस्तुतः सारा अनर्थ इसीलिए तो हुआ; क्योंकि तुम्हारा विचार नहीं बदला। तुमने सिर की आहुति क्या चढ़ाई? उसकी सार्थकता तो तब होती, जब तुम अपनी बुद्धि का अभिमान अर्पित कर देते। और अगर तुम्हारा अभिमान भस्म हो गया होता, तो इतना अनर्थ क्यों हुआ होता? ऐसी स्थिति में तुम्हारी पतंगे से तुलना बिल्कुल सार्थक है।

दीपक में प्रकाश भी है और दाहकता भी है। बुद्धिमान् व्यक्ति वह है, जो दिए को जलाने के बाद यह ध्यान रखे कि उसके जलाने वाले दोष से तो बचे और प्रकाश को ले ले, पर पतंगे का दुर्भाग्य यह है कि वह उसका प्रकाश गुण न लेकर के जलानेवाली दाहकता में डालकर अपने को भस्म कर देता है। ऐसी स्थिति में उसका भस्म हो जाना कोई वीरता का प्रमाण नहीं है, बल्कि मूढ़ता का लक्षण है। और तुम्हारी वृत्ति को भी मैं इसी दृष्टि से देखता हूँ।

खर-दूषण-त्रिशिरा में जितने अवगुण थे, वे रावण में अकेले विद्यमान थे। सच पूछिए तो रावण उसका सबका सम्मिलित रूप है। अगर किसी व्यक्ति को सांसारिक विषयों में उतना ही आनन्द आता है जितना भगवान् की कथा में तो वह व्यक्ति बोझ ढोनेवाला है, उसके जीवन में उसका कोई लाभ नहीं होगा। यह तो मन में रहने वाली खर-वृत्ति है। और दूषण-वृत्ति का तात्पर्य है, दूसरे का दोष देखना। जो व्यक्ति दूषण देखने वाला है, वह अपनी इसी वृत्ति से मारा जाता है और आगे चलकर यही हुआ।

जब भगवान् श्रीराघवेन्द्र खर-दूषण-त्रिशिरा से युद्ध कर रहे थे, तो

वे मरते ही नहीं थे। और उस समय प्रभु ने एक कौतुक किया कि जितने राक्षस थे उनको राम बना दिया। यह बहुत बढ़िया सूत्र है। कितनी विलक्षण कृपा है और वैकुण्ठ या साकेत में रहने वाले भगवान् के जो पार्षद हैं, उनका रूप बिल्कुल भगवान् की तरह है और आज भगवान् ने चौदह हजार राम और बना दिए। पर बना देने से हुआ क्या? क्योंकि होना तो यह चाहिए था कि श्रीराम को चौदह हजार रूप में देख करके इन राक्षसों को अद्वैत तत्त्व की अनुभूति होती कि जो राम सामने दिखाई दे रहे हैं वही राम हम हैं—यही है ब्रह्म की एकता। जिसको कहते हैं कि 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म।' सारा संसार ही ब्रह्म है। यद्यपि हम तो जीवत्व को सत्य समझ रहे हैं पर इनका जो रूप है, वही हमारा रूप है और जितने हमारे साथ हैं वे सब राम के रूप हैं। अगर सचमुच ऐसा दिखाई देने लगे तो उसका वह फल होगा जो शंकरजी ने पार्वतीजी से कहा। उन्होंने कहा—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥—११२ (ख)

वस्तुतः अपने से भिन्न जब कोई दिखाई देता है, तो ही व्यक्ति विरोध करता है। अगर अपने और दूसरे में एक ही ईश्वर का साक्षात्कार होने लगे, तो द्वैत मिट जाएगा, द्वेष मिट जाएगा। यद्यपि भगवान् ने तो खर-दूषण-त्रिशिरा सबको राम बना दिया। गोस्वामीजी ने कहा—

सुर मुनि सभय प्रभु देखि मायानाथ अति कौतुक कर्‌यो।
देखहिं परसपर राम करि संग्राम रिपु दल लरि मर्‌यो॥(३-१६-८-छंद२)

लेकिन इसमें व्यंग्य यह है कि अगर वे राम की ओर देखकर अपनी ओर देखते और अपने साथ वाले को भी देखते तब तो एकत्व का बोध होता, पर विडम्बना यह है कि वे देखते हैं केवल सामने। और राम के प्रति उनके अन्तःकरण में द्वेषबुद्धि है कि राम हमारे शत्रु हैं। जब वे दूसरे को देखते हैं कि ये राम हैं, उसी समय यदि कहीं अपने को भी देख लें तब तो द्वेष मिट ही जाएगा। पर समस्या यही है कि दूषण सदा दूसरों को ही देखते हैं अपने को कभी नहीं देखते। और जब अपने को नहीं देखा तो उसका परिणाम यह हुआ कि अमरता के स्थान पर लड़कर मर गए—

देखहिं परसपर राम करि संग्राम रिपु दल लरि मर्‌यो॥–३/१६/८ छं. २

इसका अभिप्राय यह हुआ कि श्रीराम में दोष-दर्शन, शत्रु-बुद्धि से तथा अपने को न देखने के कारण विनाश हो गया और हम सबको भी सावधान हो जाना चाहिए कि हम कहीं दूषण वृत्ति वाले तो नहीं हैं। कहीं हम दूषण वृत्ति वाले होकर आपस में एक दूसरे को मिटाने पर तुले हुए तो नहीं हैं। यही दूषण वृत्ति है। 'त्रिशिरा' का अर्थ है तीन सिरवाला। और ये तीन सिर काम-क्रोध तथा लोभ के हैं–

तात तीनि अति प्रबल खल काम, क्रोध, मद, लोभ।

इस प्रकार मन में रहनेवाला काम, क्रोध, लोभ 'त्रिशिरा' है। दूसरे में दोष देखने की वृत्ति 'दूषन' है तथा गुणों को केवल ढोने की वृत्ति 'खर' है। यही है मन के दण्डकारण्य का वर्णन।

मन के इस दण्डकारण्य में शूर्पणखा रहती है। यद्यपि दण्डकारण्य में एक ओर तो शूर्पणखा रहती है और दूसरी ओर इसमें शबरीजी भी रहती हैं और दोनों में अन्तर यह है कि सीताजी का हरण शूर्पणखा के कारण होता है और उनका पता शबरीजी के कारण लगता है। एक ही मन के ये दो पक्ष हैं। शबरी मन की रसमय भावना है और शूर्पणखा मन में रहनेवाली कामवासना की वृत्ति है। वासना भगवान् और भक्ति को मिलाती है। यह शूर्पणखा और शबरीजी का अन्तर है। यहाँ पर खर-दूषण और त्रिशिरा का भी निवास है और इसी दण्डकारण्य वन में महर्षि अगस्त्य का भी निवास है, कुम्भज भी हैं। इसलिए जब हम दण्डकारण्य में हों अर्थात् मन की भूमि में हों, वैसे अधिकतर हम मन की भूमि में ही रहते हैं, तो अगर हम इन ऋषि-मुनि-सन्तों के द्वारा भगवान् का चरित्र सुनें तो मन के दण्डकारण्य में भी हमें रस की अनुभूति हो सकती है। जैसे भगवान् शंकर को हुई, जब वे सतीजी के साथ कैलास से उतरकर कुम्भज ऋषि के पास कथा सुनने आए। इसका अभिप्राय यह है कि अगर हम भगवान् की मंगलमयी कथा सुनकर मन का सदुपयोग करें, तो मन की भूमि में भी रस की अनुभूति हो सकती है।

मुझे स्मरण आता है कि कथा के एक बड़े आयोजन में एक अधिकारी ने हमारे स्वागत में कुछ उद्‌गार प्रकट करते हुस कहा कि कथा तो मनोरंजन का एक स्वस्थ साधन है। कई लोगों को यह वाक्य बहुत बुरा

लग गया, लेकिन हमने कहा भाई! इतना बुरा मानने की बात नहीं है। चाहे वह शब्द हमें उतना प्रिय न लगे, पर रामायण स्वस्थ मनोरंजन भी है, इसको स्वीकार कर लेने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए; क्योंकि उसके रचयिता तुलसीदासजी स्वयं यह कहते हैं। तुलसीदासजी से जब पूछा गया कि कथा विद्वानों के लिये है कि जनसाधारण के लिए? तो उन्होंने कहा–दोनों के लिए। अच्छा, अगर दोनों के लिये है तो फिर भेद क्या है? और तब बहुत बढ़िया बात उन्होंने बताई। उन्होंने कहा कि यह कथा जगाती भी है और सुलाती भी है। विद्वानों को सुलाती है और साधारण जनता को जगाती है। यहाँ जागने-सोने का तात्पर्य नींद के सन्दर्भ में नहीं है।

साधारण व्यक्ति मनोरंजन चाहता है। मनोरंजन मन को आनन्द तथा शक्ति देने की वृत्ति है। यद्यपि मनोरंजन के हजारों साधन हैं; परन्तु उन साधनों और कथा में एक अन्तर यह है कि जैसे भोजन करते समय आपको स्वाद तो बहुत आ रहा है, पर यदि वह भोजन सुपाच्य न होकर आप में रोग उत्पन्न कर दे, तो वह आपके लिये ग्राह्य नहीं है। और एक भोजन वह है, जो ग्रहण करते समय स्वाद की भी पूर्ति करे और पेट में जाकर पच भी जाए, शरीर में शक्ति का संचार भी करे। तो बुद्धिमान् व्यक्ति वह है, जो स्वाद को ही महत्त्व नहीं देगा, अपितु परिणाम को भी ध्यान में रखते हुए अपना विषयरस चुनेगा। अगर गहराई से देखें तो मन के सन्दर्भ में भी यही सत्य है। बहुत से मनोरंजन के साधन ऐसे भी हैं, जो बहुत अश्लील हैं और उनसे भी न जाने कितने व्यक्ति मनोरंजन प्राप्त करते हैं। यद्यपि उनसे मन को रस तो मिलेगा पर अन्त में उसका दुष्प्रभाव मन पर पड़ेगा और वह दुःखदायी सिद्ध होगा। इसलिए श्रीरामचरितमानस में निमन्त्रण दे दिया गया कि कथा जिन्हें बिना स्वर के भी मधुर लगे वह तो पूरा भक्त है ही, पर जो विषयी हैं, मनःप्रधान हैं जिनको मनोरंजन प्रिय है, जिनके कान स्वरप्रिय हैं, उनका भी यहाँ स्वागत है।

काकभुशुण्डिजी से गरुड़जी ने पूछा–महाराज! प्रभु ने आपको कौवा क्यों बनाया, कौवा का कण्ठ तो कर्कश होता है और आप कथा सुनाते हैं! काकभुशुण्डिजी ने कहा–गरुड़! सत्य तो यह है कि मेरे द्वारा प्रभु, कथा की महिमा प्रकट करना चाहते थे; क्योंकि अगर कोयल के कण्ठ से कथा अच्छी लगे तो वह कथा की महिमा है या कण्ठ की, इसमें सन्देह

है। पर जब कौवे के मुख से कथा मधुर लगने लगे तो यह मात्र कथा की ही विशेषता होगी। इसलिए शब्द यही आता है कि–

बोलेउ मधुर बचन तब कागा।

लेकिन सब तो उसी स्थिति में नहीं होते। कुछ लोगों को तो कण्ठ में भेद लगेगा–कर्कशता और मधुरता में रस-भेद अवश्य प्रतीत होगा। केवल कथारस में ही संगीत के दिव्य रस की अनुभूति हो; यह तो मानो भक्ति की पराकाष्ठा होगी, ऐसी आशा सबसे तो नहीं रखी जा सकती। जिसके लिये गोस्वामीजी ने विनयपत्रिका में यह कसौटी बताई कि यदि हमें सचमुच श्रीराम मीठे लगने लगेंगे, तो निश्चित ही संसार के अन्य रसों में मिठास का अनुभव नहीं होगा–

जो मोहि राम लागते मीठे।
तो षटरस नवरस अनरस सब होइ जाते अति सीठे। (विनयपत्रिका)

तो फिर क्या किया जाए? क्या कण्ठ का उपयोग न किया जाए? किसी के पास यदि मधुर कण्ठ है, तो उसकी सार्थकता भी यही है कि उसे भगवान् के चरित्र से जोड़कर हम भगवान् के गुणों का गायन करें। और जिसे संगीत प्रिय है, जिसके स्वर में आकर्षण है वह स्वर के द्वारा आकर्षित हो, रामकथा के प्रति आकर्षित हो जाय और उसी के कारण वह प्रभु की कथा में खिंचा हुआ चला आवे। व्यक्ति के मन में मनोरंजन की प्यास है और कथा में उसे वह तृप्ति मिल रही है–यह तो पहली कक्षा के श्रोता हैं। रामायण में भी यह सूत्र दिया गया कि–

विषइन्ह कहँ पुनि हरि गुन ग्रामा।
श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥७/५२-४

ऐसे श्रोता मन और कान से जुड़े हुए हैं। कान को अच्छा लगा और मन को भी रस की अनुभूति हुई, पर उसके साथ-साथ मन में भगवान् के गुण का स्मरण भी हुआ। इस तरह से व्यक्ति धीरे-धीरे क्रमशः आगे बढ़ता जाएगा। यद्यपि मनोरंजन शब्द कथा के लिये तो हल्का है, पर गोस्वामीजी ऐसे लोगों को भी कथा में निमन्त्रण देते हैं कि आप आकर प्रभु के गुणगान में रसास्वादन कीजिए।

दूसरी ओर जो विद्वान् हैं, अध्ययनशील हैं, उनके लिये भी कथा में स्वागत है। इस सन्दर्भ में गोस्वामीजी ने बहुत बढ़िया प्रश्न उठाया।

अध्ययन में थकान आती है कि अध्ययन में विश्राम मिलता है। यदि बहुत पुस्तक पढ़ियेगा तो थकान आवेगी। गोस्वामीजी कहते हैं कि यदि विद्वान् सारे शास्त्र-पुराण पढ़-पढ़ कर थक गये हों, तो इस रामायण को पढ़ें–इसको पढ़ने से उनकी थकान मिटेगी, बढ़ेगी नहीं। प्रश्न किया जा सकता है कि तुलसीदासजी ने इतने बड़े ग्रन्थ का निर्माण किया तो उनको थकान आई कि नहीं। साधारणतया इतना बड़ा कार्य करने के पश्चात् व्यक्ति को थकान आती ही है। तो फिर तुलसीदासजी को आई कि नहीं? इस प्रश्न का उत्तर हमें बड़े सांकेतिक रूप में प्राप्त होता है।

गोस्वामीजी ने रामायण के अन्त में यह नहीं लिखा कि उन्होंने यह कार्य कितने दिन में पूर्ण किया। वैसे आरम्भ करने का दिन तो लिख दिया कि–

संवत् सोरह सौ इकतीसा।
करउँ कथा हरिपद धरि सीसा॥१/३३/४

परन्तु समापन का दिन नहीं लिखा। यदि अन्त में यह भी लिख देते कि किस तिथि को सम्पूर्ण हुआ, तो ठीक-ठीक पता चल जाता कि ग्रन्थ कितने दिनों में पूरा हुआ और इस कार्य के लिये गोस्वामीजी का भाव यह था कि कथा प्रारम्भ तो कीजिए, लेकिन अन्त मत कीजिए। यह अनन्त बनी रहे। इसलिए उन्होंने समाप्त करने की कोई तिथि नहीं लिखी। मैं भी इस नियम का पालन करता हूँ–कथा के आरम्भ का समय चाहे जो हो, पर समाप्त करने के समय का आग्रह मत रखिए। ठीक घड़ी की सुई पर ही कथा समाप्त हो जानी चाहिए, यह कथा की महिमा के विपरीत है। क्योंकि जिस समय कथारस की तन्मयता से अनुभूति हो रही है, उस समय काल की सीमा में सिमट जाना सर्वथा अनुचित है।

रामायण का निर्माण तो तुलसीदासजी ने किया और जो करेगा वह थकेगा। पुष्पवाटिका प्रसंग में भी वर्णन आता है कि–

भाल तिलक श्रम-बिन्दु सुहाए।

भगवान् राम के माथे पर पसीने की बूँदें हैं। इसका अर्थ है कि जब कुछ कर रहे हैं तभी तो श्रम की अनुभूति हो रही है। भक्त के माथे पर पसीने की बूँद इसलिए नहीं है, क्योंकि वह तो यही मानता है कि सब कुछ मेरे भगवान् कर रहे हैं। इसीलिए तो वह उनकी ओर इशारा कर देता है कि मैं केवल आपको दिखाई देता हूँ, पर गहराई से देखिए कि यह किसका

श्रम है? इसलिए तुलसीदास के श्रीराम के माथे पर श्रम बिन्दु हैं, आँखों में आँसू हैं, पैरों में काँटे हैं, ये सब प्रभु के चरित्र का सदुपयोग है।

प्रभु ने श्रीअवध में अवतार लेते ही चरित का श्रीगणेश रुदन से किया। आगे चलकर जनकपुर में पहुँचे तो माथे पर पसीने की बूँद स्वीकार कर ली! और जब चित्रकूट तथा दण्डकारण्य के वन में गये तो चरणों में काँट ले लिए, और लंका में जब विभीषण को मारने के लिये रावण ने शक्ति चलाई, तो प्रभु ने उस बाण को छाती पर झेल लिया। भक्त कहते हैं कि हमारे भगवान् ने अवतार लेकर ऊपर के नीचे तक हमारा सारा कष्ट ले लिया और आश्वासन दिया कि तुम आँसू मत बहाओ; तुम मत थको, तुम अपने हृदय में पीड़ा का अनुभव मत करो, तुम्हारा मार्ग कण्टकाकीर्ण नहीं है, मैं तुम्हारे आगे-आगे चलकर मार्ग के सारे कष्ट लेने के लिये प्रस्तुत हूँ।

तुलसीदासजी कहते हैं कि रामायण लिखने से पहले तो मैं संसार में चलते-चलते थका हुआ था पर लिखने के पश्चात्—

जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदास हूँ।
पायो परम विश्रामु राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥७/१२९/छंद-३

श्रीरघुनाथजी की कथा के द्वारा इस मतिमन्द तुलसीदास ने भी परम विश्राम पा लिया है। यहाँ पर 'परम' शब्द इसलिए जोड़ दिया गया क्योंकि वैसे तो हम सब जब रात को सोते हैं तो नित्य ही विश्राम करते हैं—पर रात्रि भर भी विश्राम करने के पश्चात् सबेरे फिर वही थकान, फिर उसी प्रवृत्ति का चक्कर प्रारम्भ हो जाता है। व्यासजी ने इसीलिए व्यंग्य किया कि सांसारिक लोगों का सुख तो उसी प्रकार का है जैसे कोई दिन भर पलंग ढोये और रात को बिछा कर सो जाए। पर तुलसीदासजी ने यह पढ़कर व्यासजी के चरणों में प्रणाम किया और कहा—महाराज! इतना भी हो कि दिनभर ढोने के बाद रात में सो जाएँ, तो भी बहुत बड़ी बात है। लेकिन मुझे तो लगता है कि अधिकांश व्यक्ति दिन भर ढोते हैं और रात भर बिछाते हैं। विश्राम का समय तो कभी आता ही नहीं। विनय पत्रिका में उन्होंने कहा कि—

डासत ही गई बीति निसा सब, कबहूँ न नाथ नींद भरि सोयो।

इसका अभिप्राय है कि शारीरिक विश्राम का क्रम और है, पर मन

को तो विश्राम की अनुभूति तभी होगी जब अन्तःकरण में रंचमात्र भी श्रम की अनुभूति न हो। इसलिए गोस्वामीजी विद्वानों को निमन्त्रण देते हैं कि आपने वेदशास्त्र पढ़े, वेदों का अध्ययन किया, बुद्धि को बड़ा थकाया, अब उसको विश्राम तो दीजिए। जब आप भगवान् श्रीराम का गुणानुवाद करेंगे, तो भक्ति का उदय होगा, आपके अन्तःकरण में ज्ञानाभिमान मिट जाएगा और भक्ति के चरम विश्राम की अनुभूति होगी। मन के दण्डकारण्य में अगर हम सतीजी के समान वृत्ति लेकर कथा सुनेंगे तो भटकाव उत्पन्न होने की आशंका है। इसलिए शंकरजी की तरह सुनिए। यद्यपि भगवान् शंकर को मनोरंजन की अपेक्षा नहीं है पर वे संसार के जीवों को सिखाने के लिये यह दिखाते हैं कि अगर हम मन की भूमि में हैं तो वहाँ हम कुम्भज की, अगस्त्य की खोज करें। वस्तुतः शरीर ही कुम्भ है और इस कुम्भ में धारण किया हुआ ज्ञान ही कुम्भज है, अर्थात् व्यक्ति को मत देखिए, व्यक्ति के ज्ञान को देखिए! भगवान् का चरित्र सुनने बैठें तो व्यक्ति की ओर ध्यान न देकर जब भगवान् की कथा में मन एकाग्र करेंगे तभी रस की अनुभूति होगी। कुम्भ को न देखकर कुम्भज को देखेंगे, तो कथा का रस ठीक-ठीक प्राप्त हो जावेगा। यह है मन के दण्डकारण्य का सदुपयोग।

दूसरी ओर मन के दण्डकारण्य में संशय तथा काम की वृत्ति है। सतीजी के अन्तःकरण में यदि संशय की वृत्ति आ गई, शूर्पणखा के अन्तःकरण में काम की वृत्ति विद्यमान है, जिसके द्वारा भक्ति और भगवान् में व्यवधान उत्पन्न हो गया। मन के जितने द्वन्द्व हैं, वही मानो दण्डकारण्य हैं और हमारे-आपके मन का सारा चित्र दण्डकारण्य प्रसंग में दिखाई पड़ेगा। इसलिए दण्डकारण्य का सदुपयोग यदि है तो भगवान् की कथा सुनने में। पर अगर दुरुपयोग होने पर एक बार सीताजी खो जाएँ, दूर चली जाएँ तो गोस्वामीजी आशा दिलाते हैं कि घबराइए मत अपितु फिर भी प्रयास कीजिए। यहीं पर शबरीजी रहती हैं। उन शबरीजी के आश्रम में जाइए—जो भावमयी हैं, भक्तिमयी हैं। श्रीसीताजी के खो जाने पर भगवान् श्रीराम भी शबरीजी के आश्रम में जाते हैं।

वर्णन आता है कि वासनामयी शूर्पणखा भगवान् राम से जो शब्द सुनना चाहती थी, वही शब्द प्रभु ने भावनामयी शबरी से जाकर कहा।

शूर्पणखा ने भगवान् राम को आकृष्ट करने के लिये स्वयं को सुन्दर रूप में सजाया। वह यही चाहती थी कि राम मेरी प्रशंसा करें, मुझे सुन्दर कहें और मेरी ओर देखें, पर श्रीराम ने शूर्पणखा को सुन्दरी कहना तो दूर रहा, उसकी ओर दृष्टि डालकर भी नहीं देखा। जब उससे वार्तालाप किया तो भी श्रीसीताजी की ओर देखकर बोले–

सीतहि चितइ कही प्रभु बाता।
अहइ कुआर मोर लघु भ्राता॥३/१६/१

यहाँ दो प्रकार के सौन्दर्य हैं। एक श्रीसीताजी का सौन्दर्य तथा दूसरा शूर्पणखा का सौन्दर्य। सीताजी मूर्तिमती भक्ति हैं और शूर्पणखा मूर्तिमती वासना है। वासना का सौन्दर्य कृत्रिम है, बनाया हुआ है, और भक्ति का सौन्दर्य शाश्वत है। भगवान् श्रीराम ने जब श्रीसीताजी को पुष्पवाटिका में देखा तो उनको ऐसा लगा कि–

सुंदरता कहुँ सुंदर करई।
छबिगृहँ दीपसिखा जनु बरई॥१/३३९/७

जैसे श्रीसीताजी सौन्दर्य के घर में दीपशिखा के समान प्रकाश करती हुई, सुन्दरता को सुन्दर बना रही हैं। भगवान् शूर्पणखा के निमन्त्रण देने पर भी श्रीसीताजी की ओर देखकर बोलते हैं। इसमें प्रभु का संकेत यह था कि अगर तुम मुझे अपनी सुन्दरता से आकृष्ट करना चाहती हो तो मेरे पास स्वयं ही ऐसी अद्भुत सुन्दरता है कि मैं इन्हें देखूँ कि तुम्हारी नकली सुन्दरता को देखूँ? भगवान् श्रीराम ने उसकी ओर नहीं देखा और भेज दिया श्रीलक्ष्मणजी के पास। लक्ष्मणजी ने जरूर जाते ही उसे 'सुन्दरि' शब्द सम्बोधित कर दिया। उन्होंने कहा–'सुन्दरि सुन'–सुन्दरी सुनो–सुनकर शूर्पणखा बड़ी प्रसन्न हुई। उसे लगा कि बड़ा भाई तो बहुत रुखा लगता था पर छोटा भाई सुन्दरता का पारखी है तभी उसने मुझे सुन्दरी कहकर पुकारा है। पर उसको आश्चर्य लगा कि यह शब्द से तो मुझे सुन्दरी कह रहा है और देख रहा है राम की ओर। वर्णन भी यही आता है कि–

गइ लछिमन रिपु भगिनी जानी।
प्रभु बिलोकि बोले मृदु बानी॥३/१६/१२

श्रीलक्ष्मणजी प्रभु की ओर देख रहे हैं। होता तो यही है कि हम जिसको सुन्दरी मानते हैं उसको हम देखना चाहते हैं और यह सुन्दरी

मानने के बाद भी दृष्टि कहीं और किए हुए हैं। पर लक्ष्मणजी मन ही मन हँस रहे थे। उनका अभिप्राय था कि जब तक मैं नहीं देख रहा हूँ, तभी तक तुम सुन्दरी हो और जब मैं आँख उठाकर देख लूँगा, तब तुम्हारी कलई खुल जाएगी। श्रीलक्ष्मणजी मूर्तिमान् वैराग्य हैं। इसका अभिप्राय है कि जब तक हम राग की दृष्टि से देखते हैं तभी तक हमें वासना में सौन्दर्य दिखाई देता है और जब वैराग्य की दृष्टि से देखेंगे तो संसार की नकली सुन्दरता में छिपी हुई कुरूपता हमें दिखाई देगी। उसके पश्चात् जब श्रीसीताजी खो जाती हैं, शूर्पणखा अपने षड्यन्त्र में सफल हो जाती है, जब भगवान् श्रीराम शबरी के पास जाते हैं और शबरी को सम्बोधित करते हुए वे बड़ा अद्भुत शब्द कहते हैं।

भगवान् राम शबरी के सन्दर्भ में जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं साधारणतया साहित्य में वे उस रूप में प्रयोग नहीं किए जाते हैं। भगवान् श्रीराघवेन्द्र ने कहा–

जनकसुता कइ सुधि भामिनी

हे भामिनी! एक तो शबरी को भामिनी कह करके सम्बोधित किया और फिर दूसरा वाक्य कह दिया–

जानहि कहु करिबरगामिनी।३/३५/१०

हे करिबरगामिनी! अर्थात् आप हाथी के चाल से चलने वाली हैं। क्या आप श्रीसीताजी का पता जानती हैं? अब भला बताइए! किसी युवती के साथ 'करिबरगामिनी' शब्द प्रयोग करें तब तो सार्थक लगेगा, पर बूढ़ी शबरी के सन्दर्भ में जब वे यह कहते हैं तो उनका तात्पर्य शुद्ध स्थूल न होकर सांकेतिक है।

'भामिनी' शब्द का शुद्ध अर्थ है–'भा-दीप्तौ'–'हे प्रकाशमयी'। भगवान् राम का अभिप्राय है कि प्रकाश और गति दोनों आप में हैं। लंका के निशाचरों द्वारा जो अन्धकार फैलाया गया है उसको नष्ट करने के लिये आपकी वाणी प्रकाशमय है। भगवान् श्रीराम शबरी की प्रशंसा करते हैं, उनसे पूछते हैं कि इतने मीठे फल तुमने खिलाए, इतना रस तुम्हारे फलों में भरा हुआ है, अब श्रीसीताजी का पता भी मुझे बताओ। इस तरह से मानो प्रभु यह बताते हैं कि अगर श्रीसीताजी खो गयी हैं, तब भी यहाँ आओ। क्योंकि यहाँ पर शबरीजी हैं और उनके द्वारा श्रीसीताजी का पता

लग जाएगा। इस प्रकार दण्डकारण्य के ये दोनों पक्ष हैं।

दूसरी ओर चित्रकूट का वन चित्त का प्रतीक है। चित्त दो प्रकार के हैं—सिद्धचित्त और चंचलचित्त। चित्रकूट रूपी चित्त चंचल नहीं है, वह एक सिद्ध चित्त है। इसलिए चित्रकूट की तुलना पर्वत से की गयी है। मानो पर्वत की तरह जिसका चित्त अचल है और वह चित्रकूट की भूमि है। इस भूमि में अत्रि और अनसूयाजी निवास करती हैं। शूर्पणखा और अनसूयाजी ये दोनों परस्पर विरोधी पात्र हैं। अनसूयाजी वे हैं जिनके अन्तःकरण में अपने पति को छोड़ करके अन्यत्र कहीं न तो राग है और न ही कहीं उनकी दृष्टि ही गई। वे पतिव्रता शिरोमणि हैं। और शूर्पणखा विधवा हो जाने के बाद भी अपना परिचय कुमारी कहकर देती है—

तातें अब लगि रहिउँ कुमारी।
मनु माना कछु तुम्हहि निहारी॥३/१६/१०

मैं अपने अनुरूप सुन्दरता ढूँढ़ रही थी और ढूँढ़ते-ढूँढते थक गई; किन्तु मेरे समान कोई सुन्दर नहीं मिला। इसलिए मैंने विवाह नहीं किया। अब तुम्हें देख करके कुछ-कुछ मन माना है—

मनु माना कछु तुम्हहि निहारी॥

कोई बात नहीं जब और कोई नहीं मिला है, तो मैं तुम्हीं से विवाह किए लेती हूँ। मानो विवाह में भी उसकी कृपा है।

सांकेतिक अभिप्राय यह है कि वासना स्वयं को नित्य कुमारी मानती है; क्योंकि वह कभी किसी का अनुगमन करने के लिये प्रस्तुत नहीं है। अनसूया सर्वतोभावेन पति की अनुगामिनी हैं। और पति भी कौन हैं? अत्रि। जिसमें काम, क्रोध, लोभ तीनों का अभाव है; विषय-वृत्ति को जिन्होंने जीवन में स्वीकार ही नहीं किया है। पति, पत्नी साथ में होते हुए भी अत्रि महात्माओं में शिरोमणि हैं। इन तीनों विकारों से परे हैं। इसका अभिप्राय है कि निरुद्ध चित्त में न तो काम का प्रवेश है, न क्रोध का और न ही लोभ का। इसलिए हमारी वृत्तियाँ बाहर कहीं नहीं भटकतीं; वे अपने लक्ष्य को छोड़कर कहीं नहीं जाती हैं। यह है अत्रि तथा अनसूया का सांकेतिक तात्पर्य।

कथा आती है कि महर्षि अत्रिजी गंगास्नान करने के लिये चित्रकूट से चल करके नित्य तीर्थराज प्रयाग जाते हैं। पतिव्रता अनसूया को इस

बात का बड़ा कष्ट था कि उनके पति को इतनी दूर चल करके जाना पड़ता है। एक दिन अपने पति से उन्होंने पूछ दिया, महाराज! आप स्नान करने इतनी दूर क्यों जाते हैं? अत्रिजी ने कहा कि वहाँ गंगाजी हैं और गंगास्नान के बिना मुझे सन्तोष की अनुभूति नहीं होती। पतिव्रता अनसूयाजी ने कहा कि अगर गंगा यहीं आएँ तो क्या आपको इस कष्ट से मुक्ति मिल जाएगी। अत्रि ने कहा कि एक बार गंगा को लाने में भगीरथ की तीन पीढ़ियाँ समाप्त हो गयीं, क्या गंगा को लाना इतना सरल है? अनसूयाजी ने कहा, आप आदेश दीजिए! आपकी कृपा से यह भी सम्भव हो जाएगा। जब अत्रिजी ने वचन दिया कि अगर गंगा की धारा यहीं आ जाएगी तो मैं उसी में स्नान करूँगा, तब त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु और शंकर को निमन्त्रण दिया गया। यह गंगा ही एक ऐसी विलक्षण नदी है, जो तीनों देवताओं से जुड़ी हुई है। विष्णु के चरण में, ब्रह्मा के हाथों में और शंकरजी के सिर पर। विष्णु के चरण से निकलकर ब्रह्मा के कमण्डल में आई, उसके पश्चात् फिर भगवान् शंकर के मस्तक पर सुशोभित हुई। याद रखिए, हाथ कर्म का प्रतीक है, सिर ज्ञान का तथा चरण भक्ति का प्रतीक है। अनसूयाजी ने सोचा कि अलग-अलग तीनों को बुलाकर मैं अनुरोध करूँ, इसके स्थान पर एक साथ ही निमन्त्रित किया जाए। और वर्णन आता है कि अन्त में तीनों देवता पधारे और प्रसन्न होकर गंगा की एक धारा वहाँ प्रवाहित की, जिसका नाम मन्दाकिनी पड़ा। श्रीरामचरितमानस में मन्दाकिनी का परिचय इसी रूप में दिया गया है। महर्षि वाल्मीकि ने भगवान् राम से कहा—

नदी पुनीत पुरान बखानी।
अत्रिप्रिया निज तप बल आनी॥
सुरसरि धार नाउँ मंदाकिनि।
जो सब पातक पोतक डाकिनि॥
अत्रि आदि मुनिवर बहु बसहीं।
करहिं जोग जप तप तन कसहीं॥२/१३१/५

अब प्रश्न यह है कि भक्ति की धारा दूर है या पास? और इसका उत्तर यह है कि दोनों ही ठीक हैं। क्योंकि जब चित्त में आ गयीं तो सुलभता की पराकाष्ठा हो गई। अब महर्षि अत्रि की इतनी दूर स्नान

करने जाने की आवश्यकता नहीं है। इसके पहले महर्षि नित्य तीर्थराज प्रयाग जाते हैं। रामचरितमानस में गंगा की तुलना भक्ति से की गयी है। इसका तात्पर्य है कि अगर हम चाहते हैं कि हमारे अन्तःकरण में भक्ति रस का संचार हो तो यह निश्चित समझिए कि कथा से ही भक्ति रस की धारा फूटेगी।

दूसरी दृष्टि से विचार करके देखें तो भक्ति के दो पक्ष हैं। स्वयं चल करके जाना भक्तों की साधना का पक्ष है और स्वयं गंगा का वहाँ चले आना यह भक्ति का कृपा पक्ष है। भक्ति के दो रूप हैं। कभी हम भगवान् और भक्ति को पाने की चेष्टा करते हैं, तो कभी भगवान् और भक्ति हमें धन्य बनाने के लिये स्वयं चले आते हैं। और यह सम्भव होता है अनसूया के द्वारा। इन अनसूया को पहचानिए और खोजिये कि हमारे अन्तःकरण में अनसूया हैं कि नहीं। वस्तुतः अनसूया में जो अनन्यता है, भक्ति का मुख्य गुण भी वही है। और अभिप्राय यह है कि भक्ति की धारा लाने की सामर्थ्य उसी में है जिसमें अनन्यता है। हमारे सारे भक्ति-शास्त्र में अनन्यता को सर्वश्रेष्ठ माना गया। भगवान् अर्जुन को भी जब गीता का उपदेश देते हैं तो यही कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ गीता १-२२

जिनके जीवन में अनेक आश्रय हैं वहाँ पर मेरी अपेक्षा नहीं है। किन्तु जिनके जीवन में मेरा आश्रय छोड़कर और किसी का आश्रय ही नहीं, ऐसे लोगों के योगक्षेम का वहन मैं करता हूँ। और अनन्यता की यह वृत्ति आये बिना भगवान् ही भक्ति का सच्चा अर्थ हमें अनुभव नहीं होगा। इसलिए तुलसीदासजी भी भगवान् से प्रार्थना करते हुए यही कहते हैं कि—

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घनश्याम हित चातक तुलसीदास॥

मेरे मन में एकमात्र भरोसा यदि है तो केवल आप पर और आशा है तो केवल आपसे है। और बल हो तो आप हो। यह कहने का उद्देश्य यह है कि भक्ति की धारा निकले तो पहले अपनी बुद्धि को अनन्य बनाइये। अगर आपको सारी वस्तुओं में समान रस की अनुभूति हो रही है तो आपकी बुद्धि अनन्य नहीं है, भटकने वाली बुद्धि है। पर जब

आपकी बुद्धि केवल भगवान् की कथा, भगवान् के गुणानुवाद में रस की अनुभूति करे, तो यह अनन्यता है, यह उसका पातिव्रत है। होना यह चाहिए कि बुद्धि पतिव्रता हो जाय, भटके नहीं, इधर-उधर दृष्टि न डाले।

यदि हम चाहते हैं कि भगवान् की कथा गंगा से भक्ति की मन्दाकिनी रूपी रामकथा की एक धारा हमारे जीवन में आये तो हमें अनसूया को खोजना होगा। और अनसूया शब्द का अर्थ है जिसमें असूया का अभाव है। असूया शब्द का विश्लेषण करते हुए कहा गया कि—

परगुणेषु दोषाविष्करणम् असूया।

दूसरे के गुण में भी दोष निकाल देना यही असूया है। वस्तुतः सारी समस्या तो गुण-दोष की ही है। जिस सृष्टि में हम और आप रह रहे हैं वह तो गुण और दोषों के मिश्रण से बनी हुई है। और कथा का उद्देश्य यह बताना है कि इस द्वन्द्वमयी सृष्टि में हम कैसे रहें, क्या करें? यह याद रखिए कि असूया वृत्ति लाये बिना रामकथा की मन्दाकिनी हमारे जीवन में नहीं आयेगी और रामकथा की मन्दाकिनी में अवगाहन किये बिना हम दोष-गुण के द्वन्द्व में ही उलझे रहेंगे।

रावण को रामकथा का आनन्द इसलिए नहीं आता; क्योंकि वह तो मूर्तिमान् असूयावृत्ति से ग्रस्त है। उसके जीवन में अनसूया तो है नहीं। कई लोग ऐसे होते हैं, जो दूसरों का दोष बढ़ा करके देखते हैं और अपना गुण बढ़ा करके देखते हैं। कई व्यक्ति ऐसे होते हैं जो दूसरों का दोष भी देखते हैं और गुण भी देखते हैं। और कई व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अपना दोष देखते हैं और दूसरों का गुण देखते हैं। संसार में सारे व्यवहार का आधार ही गुण-दोष देखने की वृत्ति है। यदि हमें इस वृत्ति का सही-सही उपयोग करना आ जाय तो बहुत सारी समस्याओं का समाधान हो जाय। परन्तु उसके आने का क्रम क्या है?

सृष्टि गुण-दोषमयी है। पर यदि पहली कक्षा में यह कह दें कि गुण और दोष नहीं देखना चाहिए तो यह सम्भव नहीं है। रामायण के उत्तरकाण्ड में यही बताया गया है कि सन्त वह है जिसके जीवन में गुण-दोष दर्शन का अभाव है। सन्त की सिद्ध स्थिति में न तो गुण दर्शन है और न ही दोष दर्शन। और यह सत्य भी है, क्योंकि जो भगवान् का दर्शन कर रहा है उसके पास इतना समय कहाँ है कि वह दूसरे का गुण और दूसरे का

दोष देखता रहे। यह तो जिसके पास समय बहुत है और जो निरन्तर दूसरे को ही देखते हैं उन्हें किसी में दोष दिखायी देता है तो किसी में गुण। वस्तुतः दोष और गुण न दिखायी देना यह तो अन्तिम स्थिति है। इसलिए प्रारम्भ हम यहाँ से करें कि जब हमें दोष-गुण दिखायी देता है तो उसे हम स्वीकार कैसे करें? और इसका उत्तर यह है कि हम गुण-दोष देखने का सदुपयोग करें। और सदुपयोग इस रूप में हो सकता है कि दोष देखकर सामने वाले से द्वेष न करें और गुण देख करके उससे राग न करें। नहीं तो बड़ा उल्टा परिणाम आवेगा। दोष देखकर अगर दोषी से द्वेष हो गया, तो अनर्थ हो गया। क्योंकि वह जितना नीचे था आप द्वेष के कारण उससे और नीचे उतर गये। और यदि दोष देखकर वैराग्य उत्पन्न हो गया, तो आपने दोष देखने का भी सदुपयोग किया। वैराग्य के मूल में दुःख और दोष दर्शन की वृत्ति ही कार्यरत होती है! जब सृष्टि ही दोषमयी है, तो उसमें व्यक्ति केन्द्र में नहीं रह गया। और दुःख के कारण संसार के विषयों से उसका राग हट गया। दोष दर्शन जब व्यक्तिपरक हो जाता है तो दोषी से द्वेष तथा बदले में दूसरे से राग होता है। पर क्या यह सम्भावना नहीं है कि जिससे आपको राग हो गया उसमें आपको भविष्य में कभी दोष दिखायी नहीं देगा और जब यह होता रहेगा तो आप किसी-किसी को हटायेंगे और कैसे व्यवहार चलेगा? व्यवहार बदलकर दोष देखियेगा तो जीवन भर दोष देखते रहेंगे।

रामायण में बताया गया है कि दोष दर्शन का भी अपना एक महत्त्व है। श्रीभरतजी ने कैकेयी का दोष देखा और श्रीराम ने कैकेयी का गुण देखा। किन्तु प्रश्न यह है कि श्रीराम का कार्य ठीक है कि श्रीभरत का? किन्तु नहीं—विचार करके यदि देखें तो यह कह सकते हैं कि दोनों में देखने की कला का सदुपयोग है। अगर भगवान् राम कैकेयीजी में दोष देखें कि मुझे राज्य मिलने वाला था, इन्होंने छीन लिया, तो उन्हें कितना बड़ा द्वेष होगा। हम लोगों के जीवन में ऐसे अवसर आते हैं। अगर किसी के कारण हम लाभ से वंचित हों तो प्रतिक्रियास्वरूप हमारे अन्दर द्वेष की पराकाष्ठा जगती है। भगवान् श्रीराम ने गुण देखा उसका आनन्द यह है कि प्रभु ने अपने शील की मीठी चासनी में से कैकेयीजी की दोष रूपी कड़वाहट को अत्यन्त मीठा बना लिया और माँ से कह

दिया कि—

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहिं भाँति हित मोर।
तेहिमहँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥ २/४१/०

मानो इस प्रकार के दोष में भी गुण दर्शन व्यक्ति को द्वेष से तो बचाता ही है और साथ-साथ मन में रस की सृष्टि भी करता है।

चित्रकूट की सभा में भगवान् श्रीराघवेन्द्र कैकेयीजी का गुण गाते समय ध्यान से श्रीभरत की ओर देख रहे थे। स्वाभाविक रूप से वक्ता श्रोताओं की ओर देखता है कि इन पर मेरी बात का प्रभाव पड़ रहा है? और जब देखा तो श्रीभरत की आँखों में आँसू भरे हुए थे। प्रभु प्रसन्न हुए—भरत तो कैकेयी के प्रशंसक नहीं थे। पर लगता है कथा का उचित प्रभाव पड़ा और आज भरत का हृदय भी द्रवित हो गया। इसीलिए तो कैकेयीजी की कथा सुनकर आँखों में आँसू आ गये। भगवान् राम ने भरतजी से पूछा—तुम्हें कैकेयीजी की कथा कैसी लगी? श्रीभरत ने कहा—महाराज! मैं कथा नहीं सुन रहा था। मैं तो कथावाचक को देख रहा था। मैं यही सोचकर गद्गद हो रहा था कि हमारे प्रभु कितने कृपालु हैं, कितने उदार हैं, कि जिन कैकेयीजी ने उनको इतना कष्ट दिया जब उनमें भी ये गुण देख सकते हैं तो फिर ऐसे शीलवान् प्रभु को छोड़कर अन्यत्र कहाँ जायँ। इसलिए मेरे मन में आपके प्रति ही भक्ति आयी, कैकेयीजी के प्रति नहीं।

श्रीराम का गुण दर्शन उनके लिये उपयोगी है और श्रीभरत का दोष दर्शन उनके लिए। श्रीभरत तो अत्यन्त कठोर शब्दों में कैकेयीजी की निन्दा करते हैं। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया कि—

जब तैं कुमति कुमत जियँ ठयऊ।
खंड खंड होइ हृदउ न गयऊ॥
बर माँगत मन भइ नहिं पीरा।
गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा॥२/१६१/१

इस प्रकार श्रीभरत ने तो ठीक उल्टी बात कही। क्योंकि भगवान् राम कहते हैं—

दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई।
जिन्ह गुर साधु सभा नहि सेई॥२/२६२/८

हमारी माँ कैकेयीजी को दो दोष देते हैं, वे तो जड़ हैं और श्रीभरत दोष दे रहे हैं। और यहाँ तक कि उन्होंने तो कैकेयीजी को माँ तक कहना बन्द कर दिया। लेकिन इतना होते हुए भी श्रीभरत के मन में कैकेयीजी के प्रति द्वेष नहीं आया। यह बड़ा सूक्ष्म अन्तर है। क्योंकि अगर उनके मन में कैकेयीजी के प्रति द्वेष होता—तो महाराज श्रीदशरथ की मृत्यु के पश्चात् रानियाँ जब सती होने चली थीं उस समय वे माँ कौसल्या और सुमित्रा को तो चरण पकड़कर रोक लेते और कैकेयी को नहीं रोकते! लेकिन उन्होंने ऐसा बिलकुल नहीं किया। अपितु वर्णन आया है कि—

गहि पद भरत मातु सब राखी। २/१६९/०

एक ओर तो उनमें ऐसा तीव्र दोष दर्शन है पर ठीक एक वैद्य की भाँति जो रोगी का दोष तो देखता है पर वह रोगी का हितैषी है, शत्रु नहीं। भगवान् राम ने दोष नहीं देखा, तो बिलकुल ठीक किया, क्योंकि वे माँ को देख रहे थे। और श्रीभरतजी ने इसलिए देखा कि वे रोगी को देख रहे थे। इसलिए रोग देखना आवश्यक था। वैद्य रोगी का रोग देखकर उससे घृणा नहीं करता, बल्कि उसका रोग दूर करने की चेष्टा करता है, और श्रीभरतजी ने यही किया।

श्रीभरतजी ने जब कैकेयीजी को कठोर शब्दों में फटकारा तो यह रोगी के लिये कड़वी दवा थी। और इसका उद्देश्य यह था कि मेरे प्रति उनकी जो ममता है वह किसी प्रकार से हट जाय। इसलिए श्रीराम जब अयोध्या लौट करके आये और माँ कैकेयी के पास गये, तो माँ से पूछा, माँ! तुम्हें मेरी याद तो अवश्य आयी होगी, पर यह बताइये कि इन चौदह वर्षों में तुम्हें सबसे अधिक मेरी याद कब आयी? कैकेयीजी ने कहा—जिस दिन भरत लौट करके आये और मैंने जब उनसे राज्य लेने का प्रस्ताव किया, तो उन्होंने जिन शब्दों में मुझे फटकारा, उस व्यवहार से मुझे तुम्हारी जितनी याद आयी, वैसी कभी नहीं आयी थी। क्योंकि जब मैंने देखा कि एक पुत्र है भरत जिसके लिये मैंने इतना बड़ा अनर्थ किया, स्वयं विधवा हो गयी, पति की मृत्यु का कारण बनी, अपने ऊपर कलंक लिया और वह पुत्र मेरा मुँह नहीं देखना चाहता और एक पुत्र थे राम जिनको मैंने वन भेज दिया पर फिर भी वे कितने प्यार से चले गये।

वस्तुतः राम तुम्हारे शील की याद करके मैं उस दिन बहुत रोयी और मुझे लगा कि तुम मुझसे दूर नहीं हुए अपितु निकट चले आये हो। श्रीभरत तो यही चाहते हैं कि इन्होंने ममता के कारण ही सारा अनर्थ किया है, किसी प्रकार मेरे प्रति इनकी ममता दूर हो, इसलिए कटु व्यवहार करते हैं, पर उसके पीछे उनका द्वेष-भाव न होकर दवा करने की वृत्ति है। इसीलिए वे सती होने से रोक लेते हैं।

श्रीभरत का अभिप्राय है कि माँ! क्या अग्नि में शरीर को भस्म कर देना ही सती होना है। वस्तुतः आपका जो अपराध है, उसका प्रायश्चित्त तो अग्नि में जलकर भी नहीं होगा। अगर आप उसका प्रायश्चित्त ही चाहती हैं तो पश्चात्ताप की अग्नि में अपने को जलाइये और पुनः प्रभु के राज्याभिषेक के लिये प्रयत्न कीजिये। आप भी हम लोगों के साथ चित्रकूट चलकर श्रीराम को लौटाने की चेष्टा कीजिये तभी आपका सती धर्म सार्थक माना जायेगा। यह है श्रीभरत के दोष दर्शन में दोषी के दोष निवारण की चेष्टा।

एक दिन भगवान् श्रीराम ने श्रीभरत की परीक्षा लेने के लिये पूछ दिया—भरत! तुम तो अत्यन्त उदार हो, फिर तुम कैकेयी को क्षमा करके उन्हें माँ कहकर क्यों नहीं पुकारते? उस समय भी भरत ने दो बातें कहीं—उन्होंने पूछा, प्रभु आप उन्हें क्या कहकर पुकारते हैं? प्रभु ने कहा, मैं तो सदा से उन्हें माँ मानता हूँ और माँ कहकर ही पुकारता भी हूँ। श्रीभरत ने चरणों को पकड़ करके कहा—प्रभु! आपके मुँह से माँ शब्द सुनने के बाद भी अन्य किसी के मुख से माँ शब्द सुनने की इच्छा उनमें शेष है क्या? आपने जिसको माँ कह दिया उसने तो सब कुछ पा लिया। भगवान् श्रीराम ने कहा, भरत! फिर भी लोक दृष्टि में तो तुम्हें माँ कहना ही चाहिए। श्रीभरत ने कहा, प्रभु! इसका कारण यह है कि कोई वस्तु चाहे कितनी भी श्रेष्ठ क्यों न हों, पर यदि वह किसी व्यक्ति विशेष के लिये कुपथ्य हो तो उसे वह वस्तु नहीं देनी चाहिए। इसी प्रकार यह माँ शब्द अन्य लोगों के लिये तो पथ्य है, पर कैकेयीजी के लिये कुपथ्य है। क्योंकि मैंने उनको लड़कपन में माँ-माँ कहकर पुकारा तभी तो उन्होंने अपने बेटे के लिये इतना बड़ा अनर्थ किया। फिर से अगर मैं माँ कह दूँ और कहीं फिर से उनका ममत्त्व जग जाय और फिर कोई अनर्थ कर

दें, इसलिए अच्छाई इसी में है कि मैं उन्हें माँ कहकर न पुकारूँ! इसका अभिप्राय है कि गुण देखें तो उनका सदुपयोग करें; उन्हें अपने जीवन में उतारें, इसी में उसकी सार्थकता है। और दोष देख करके अगर हमें संसार के विषयों से वैराग्य हो जाय और सामने वाले का दोष मिटाने की क्षमता हो, तो दोष देखना उपयोगी है। इसीलिए रामचरितमानस में कहा गया है कि–

ताते कछु गुन दोष बखाने।
संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने॥

पर असूया वृत्ति क्या है? दोष में दोष दिखाई दे या गुण में गुण दिखाई दे, तब तक तो ठीक है, पर अगर किसी का गुण देख करके उसमें भी दोषारोपित कर दें, तो यह मानो असूया है। रावण की वृत्ति यही है।

श्रीहनुमान्‌जी समझाते हैं कि प्रभु की महानता पर तुम ध्यान दो। प्रभु ने इतने बड़े वैभवशाली राज्य का त्याग कर दिया। पर रावण की व्याख्या असूयायुक्त है। उसने कहा कि राम ने स्वयं राज्य नहीं छोड़ा है अपितु वास्तविकता यह है कि–

अगुन अमान जानि तेहि दीन्ह पिता बनवास। ६/३१(क)

दशरथ ने समझ लिया कि इस लड़के में न कोई गुण है, न कोई स्वाभिमान, इसलिए देश निकाला दे दिया। और इन्होंने प्रचार कर दिया कि मैंने तो राज्य का त्याग किया है। असूया वालों के पास तर्क भी होता है। रावण ने कहा, मेरे पास प्रत्यक्ष प्रमाण है। जो व्यक्ति सोने के मृग का लोभ नहीं छोड़ पाया, वह भला अयोध्या का राज्य छोड़ सकता है? बिल्कुल नहीं। यह तो झूठा प्रचार है और इस समय स्थिति यह है कि–

सो दुख अरु जुबती बिरह पुनि निसिदिन मम त्रास। ६/३१ (क)

एक तो वह राज्य और पत्नी छिन जाने से दुःखी है और ऊपर से उसे दिन-रात नींद नहीं आती; क्योंकि मेरी चिन्ता करता रहता है। यही है असूया की वृत्ति। और आजकल यह वृत्ति इतनी बढ़ी हुई है कि केवल राम में ही नहीं, रामायण में ही नहीं अपितु हम लोग सभी में इतनी तर्कपूर्ण पद्धति से दोष बताते हैं कि साधारण बुद्धिवाला व्यक्ति विचलित हो जाएगा, कि हाँ आप बिल्कुल ठीक कर रहे हैं। और जहाँ असूया की

यह वृत्ति है वहाँ रामकथा की मन्दाकिनी नहीं बहेगी। सबसे ऊँची कला तो यह है कि व्यक्ति दोष में भी गुण ढूँढ़ सके। लेकिन यदि हम यह न कर सके तो कम-से-कम गुण में तो गुण देखें। वस्तुतः कथा के लिये पार्वतीजी के रूप में श्रद्धा तथा अनसूया के रूप में अनन्यता की आवश्यकता है।

अनसूयाजी की वृत्ति अपने पति में इतनी केन्द्रित हो गयी है कि अन्यत्र कहीं जाती ही नहीं। वस्तुतः भगवान् के चरित्र की व्याख्या तभी पूरी तरह से होगी जब पार्वती जैसी श्रद्धा हो। और अन्तःकरण में जब श्रीराम के प्रति पूर्ण अनन्यता होगी तभी रामकथा की मन्दाकिनी प्रकट होगी। इसके बाद की चर्चा कल करेंगे।

□

॥श्रीरामः शरणं मम॥

सप्तम प्रवचन

रामचरितमानस के प्रारम्भ में कथा के अनगिनत रूपों की चर्चा की गई और नदियों के प्रसंग में यह भी कहा गया कि जैसे अनगिनत नदियों में जल समान दिखाई देने पर भी उनके गुण तथा प्रभाव में कुछ न कुछ भिन्नता है, इसी तरह से रामकथा के भी अगणित रूप हैं। और भिन्न-भिन्न नदियों के समान ही उस कथा का प्रभाव और परिणाम व्यक्तियों के जीवन पर अलग-अलग पड़ता है। अभी जो दोहा आपके सामने पढ़ा गया, उसमें कहा गया है कि—

रामकथा मन्दाकिनी चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुबीर बिहारु॥

श्रीराम की कथा मन्दाकिनी नदी है। अचल चित्त ही चित्रकूट है और प्रेम ही वन है। और जहाँ ये तीनों वस्तुएँ होती हैं, उसका परिणाम क्या होता है? मानो कहने का सीधा-सा तात्पर्य यह है कि जब हमारा चित्त चंचल न रहकर पूरी तरह शान्त हो जाता है, अचल हो जाता है, जब हमारे हृदय में प्रेम का उद्रेक होता है और ऐसी मनःस्थिति में जब हम कथा सुनते हैं, तो वही मानो मन्दाकिनी का प्रवाह है। जैसे चित्रकूट में भगवान् राम और श्रीसीता निवास करते हैं, इसी प्रकार से यदि हम यह चाहते हों कि हमारे हृदय में भी श्रीसीता, लक्ष्मण और प्रभु निवास करें, तो हमें अपने अन्तःकरण को चित्रकूट के रूप में परिवर्तित कर लेना चाहिए।

कल अनसूया की बात आपके सामने कही जा रही थी। अनसूया के पातिव्रत तथा निष्ठा के प्रभाव से गंगा की धारा मन्दाकिनी चित्रकूट में प्रवाहित हुई। इसका अभिप्राय है कि यदि हम और आप भी यह चाहते हैं कि हमारे हृदय में रामकथा की गंगा प्रवाहित हो तो उसके लिये श्रद्धा

रूपा पार्वती की अपेक्षा है और यदि यह चाहते हों कि कथा हमारे जीवन के अत्यन्त निकट आ जाय तो हमारे अन्तःकरण में अनसूया वृत्ति की आवश्यकता है। अनसूया शब्द का तात्पर्य है जिसमें असूयावृत्ति नहीं है। और असूया वृत्ति की व्याख्या के सन्दर्भ में कल आपके सामने यह बात कही गयी थी कि दूसरे के गुण में भी दोष का आविष्कार कर लेना यही असूयावृत्ति है। अब आइए, इसके आगे कुछ विचार करें।

रामकथा को अगर हम ध्यान से सुनें तो हमें यह अनुभव होगा कि हमारे-आपके जीवन की जो अनेक समस्याएँ हैं, उनके अनेकों समाधान कथा के अलग-अलग प्रसंगों में प्रस्तुत किए गये हैं और उन समाधानों में से जो समाधान आपको सबसे अधिक प्रिय लगे, अपने लिये उपयोगी लगे उसी को हम और आप अपने जीवन में स्वीकार कर लें।

कल आपके समक्ष गुण-दोष के सन्दर्भ में कुछ बातें कही गयी थीं। इसे एक साधारण दृष्टान्त के माध्यम से यों कह सकते हैं कि जैसे मिट्टी को अगर सानने की चेष्टा करें, तो जल डालकर उसे गीला कर लिया जाता है, उसके बाद फिर गीली मिट्टी में और जो वस्तु मिला दी जाएगी, मिट्टी के सूख जाने पर भी वह वस्तु उस मिट्टी में विद्यमान रहेगी। इसी प्रकार ब्रह्मा ने जब सृष्टि का निर्माण किया तो उसने दो वस्तुओं को मिलाकर सान लिया और उसी के द्वारा उन्होंने सृष्टि बना डाली। इसीलिए रामचरितमानस में यह वाक्य कहा गया कि—

कहहिं बेद इतिहास पुराना।
बिधि प्रपंचु गुन अवगुन साना॥१/४/४

ब्रह्मा का यह प्रपंच गुण-अवगुण से मिलकर बना हुआ है। इसमें—

दुख सुख पाप पुन्य दिन राती।
साधु असाधु सुजाति कुजाती॥
दानव देव ऊँच अरु नीचू।
अमिअ सजीवनु माहुरु मीचू॥
माया ब्रह्म जीव जगदीसा।
लच्छि अलच्छि रंक अवनीसा॥
कासी मग सुरसरि क्रमनासा।
मरु मारव महिदेव गवासा॥

सरग नरक अनुराग बिरागा।
निगमागम गुन दोष बिभागा॥
दो.–जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
सन्त हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार॥१/५/५

इसका अभिप्राय यह हुआ कि गुण और दोष प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान हैं, क्योंकि वह उसी धातु से बना हुआ है? वह स्वयं भी गुण-दोष से बना हुआ है? और संसार के जो अन्य व्यक्ति हैं, वे भी उसी धातु से बने हुए हैं। हाँ! उनमें मात्रा का भेद तो होता है। जिस व्यक्ति के जीवन में अधिक गुण दिखाई देते हैं, उसे हम गुणवान् कहते हैं और यदि किसी के चरित्र में, आचरण में दोष अधिक दिखाई देते हैं तो उसे हम पुण्यात्मा न कह करके पापी कहते हैं। यदि हम गहराई से विचार करके देखें तो ये दोनों के दोनों ही हमारे जीवन में विद्यमान हैं। ऐसी परिस्थिति में एक समस्या तो यह है कि हमारे जीवन में जो गुण-दोष हैं उन्हें हम किस रूप में उपयोगी बनावें? और साथ ही दूसरों के जीवन में जो गुण-दोष हैं उन्हें हम कैसे ग्रहण करें, इन दोनों कलाओं की अपेक्षा है। इसका समाधान रामायण के अनेक प्रसंगों में विभिन्न रूपों में किया गया है।

कर्म सिद्धान्त का संकेत भी आपको रामकथा में मिलेगा। उस दृष्टि से विचार करके देखिए तो भी गुण-दोष का समाधान किया जा सकता है। एक सीमा तक उसकी भी उपयोगिता है। ज्ञान और भक्ति की दृष्टि से भी गुण-दोष का समाधान आपको कथा में मिलेगा। और शरणागति तथा दीनता की दृष्टि से भी इसका समाधान प्राप्त होगा। व्यवहार की दृष्टि से यदि विचार करके देखें कि सामने वाले व्यक्ति में दोष दिखाई दे तो उसे हम किस रूप में देखें और इसके साथ-साथ यदि किसी व्यक्ति में गुण दिखाई देता है तो उस गुण को हम किस दृष्टि से देखें। और इसका सरल-सा उत्तर है कि हमारे अन्तःकरण में वस्तुतः इन तीनों वृत्तियों के सामंजस्य की अपेक्षा है।

भगवान् श्रीराघवेन्द्र ने विभीषणजी के समक्ष धर्मरथ का वर्णन किया है। और गुणों का जो एकत्रीकरण है, वही धर्मरथ है। रथ में जैसे अनेक वस्तुएँ जुड़ी हुई हैं, और जब वे अपने-अपने स्थान पर होती हैं तो रथ सही रूप में आगे की ओर बढ़ता है, पर अगर रथ में उनमें से कोई वस्तु

कम हो जाय तो रथ पूरी शक्ति से नहीं चलेगा और युद्ध में अथवा रास्ते में, वह आपको संकट में डाल सकता है। प्राचीन काल के युद्धों में इसका सांकेतिक वर्णन किया गया है।

आपने महाभारत की कथा में सुना होगा कि कर्ण जिस रथ पर बैठ कर युद्ध कर रहा था, युद्ध क्षेत्र में उस रथ का पहिया जमीन में धँस गया और तब वह रथ से उतरकर पहिये को निकालने लगा। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को आदेश दिया कि तुम कर्ण पर इसी प्रकार प्रहार करके इसका वध करो। अर्जुन ने संकोच होते हुए भी भगवान् के आदेश को स्वीकार किया और रथ का पहिया निकालते हुए कर्ण पर बाणों से प्रहार किया। दूसरी समस्या कर्ण के सामने यह आ गयी कि पृथिवी पर खड़े होकर जब उसने अर्जुन के बाणों का उत्तर देने की चेष्टा की तो कर्ण को बाण चलाने की कला की विस्मृति हो गई। वह बाणों के मन्त्र को भूल गया और इसी परिस्थिति में कर्ण का विनाश हुआ। अब जरा इस कथा के अन्तरंग तात्पर्य यह दृष्टि डालें।

कर्ण जिस रथ पर बैठा हुआ है, वह भी धर्मरथ ही है। क्योंकि कर्ण के चरित्र को यदि पढ़ें तो आपको लगेगा कि वह कितना अद्भुत धर्मात्मा है। महान् दानी, महान् सद्गुण सम्पन्न, महान् गुरु भक्त और सर्वदा शौर्य, धैर्य से युक्त, कर्ण का जो व्यक्तित्व है, वह अनेक गुणों से युक्त है। पर बड़ा विचित्र संकेत है कि दुर्योधन दोषों से युक्त है और कर्ण गुणों से भरा हुआ है। पर दुर्योधन का भी विनाश हुआ और कर्ण का भी विनाश हुआ। और इतना ही नहीं कर्ण का विनाश करने की आज्ञा तो स्वयं भगवान् ने दी। कभी-कभी तो कर्ण का चरित्र पढ़ करके उसके प्रति बड़ी सहानुभूति उत्पन्न होती है। मैंने किसी जर्मन विद्वान् का एक लेख पढ़ा था। उसमें उसने कहा था कि ये ब्राह्मण, पाण्डवों के आश्रित थे, इसलिए उन्होंने पाण्डवों के गुणों का वर्णन किया और गुणवान् होते हुए भी कर्ण जैसे महारथी के गुण की उपेक्षा कर दी, यह तो ब्राह्मणों का पक्षपात है पाण्डवों के प्रति। तो भाई! वह बिचारा जिस स्तर से सोच सकता था, वैसा उसने सोचा। यद्यपि गुण-दोष के सन्दर्भ में कभी-कभी ऐसा होता है। किन्तु कर्ण के सन्दर्भ में थोड़ा विचार करें।

वैसे तो रथ का पहिया ही व्यक्ति को उठाए रहता है, पर यदि रथ

का पहिया नीचे धँस गया तो आप ही को उसे खींचने की चेष्टा करनी पड़ेगी। यहाँ पर तो बात बिल्कुल उल्टी है। क्योंकि कर्ण के जीवन में ऐसा एक क्षण आया जब उसके रथ का पहिया नीचे धँस गया। इसका सीधा-सा अर्थ याद रखिएगा कि गुण में अगर अभिमान का बहुत बोझ हुआ तो वह नीचे धँसे बिना नहीं रहेगा। इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ गुण के साथ-साथ आप गुणाभिमानी बने वहाँ यह समस्या आए बिना नहीं रहेगी। रामायण में कहा गया है कि शौर्य तथा धैर्य ही धर्मरथ के दो पहिये हैं–

सौरज धीरज तेहि रथ चाका।

और कर्ण में अद्भुत शौर्य था, अद्भुत धैर्य भी था, पर कर्ण का जो शौर्य और धैर्य था वही अभिमान के कारण अन्ततः उसके विनाश का कारण बना। कर्ण यह समझ बैठा कि मेरे समान शौर्य और मेरे समान धैर्य किसी में नहीं है। और युद्ध में यही अभिमान उसके रथ को अधोगामी बना देता है। मानो गुण का अभिमान, गुण का भार, व्यक्ति को अभिमानी बना देता है, और तब व्यक्ति की यात्रा अवरुद्ध हो जाती है।

दूसरा संकेत आता है कि कर्ण अपने बाणों को भूल गया। यह और बढ़िया बात है। यों कह लीजिए कि जैसे कोई विद्यार्थी पूरे वर्ष परिश्रम करके सारा पाठ याद कर ले किन्तु परीक्षा के समय भूल जाए? तो उसे इसलिए प्रमाणपत्र थोड़े ही मिलेगा कि उसने बड़ा परिश्रम किया है। क्योंकि जब वह परीक्षा के समय भूल गया तो फिर उसके परिश्रम का कोई अर्थ नहीं है। इसी प्रकार से काल के अनुरूप जिस समय जिस गुण-दोष की आवश्यकता है, उसकी स्मृति यदि आपके जीवन में नहीं है, तो चाहे कितने ही गुण आपने संग्रहीत किए हों, किन्तु आपको पराजित होना पड़ेगा। इस प्रकार कर्ण के जीवन की ये दो समस्याएँ हैं और इनको दो सांकेतिक भागों में बाँटा गया है। इस सन्दर्भ में महाभारत में बड़ी विचित्र कथाएँ आती हैं।

किसी ब्राह्मण की गायें दलदल में फँस गयी थीं उसने कर्ण से निकालने की प्रार्थना की और कर्ण गया भी। उसने गायों की रक्षा का प्रयास भी किया पर कथा में बड़ा विचित्र-सा मोड़ यह आता है कि निकालने के प्रयास में गाएँ बची नहीं अपितु दलदल में और समा गयीं।

और तब ब्राह्मण ने क्रुद्ध होकर कहा कि जिस तरह से मेरी गायें दलदल में फँस गयी हैं इसी तरह से तुम्हारा रथ भी दलदल में फँस जाएगा। वहाँ पर भी सूत्र बहुत बढ़िया है। क्योंकि कर्ण गायों की रक्षा कर रहा था, परोपकार कर रहा था। पर अन्त में गायों की रक्षा न करके, गायों के विनाश का हेतु बन गया, वस्तुतः उसको यह अभिमान था कि मैं रक्षक हूँ। कर्ण के जीवन का जो सबसे दुर्भाग्यपूर्ण पक्ष है, वह उसका अभिमान है और ईश्वर अभिमान को विनष्ट करनेवाला है। अगर वह यह मान करके चलता है कि रक्षक तो भगवान् ही है। मैं तो मात्र निमित्त बन करके कर्तव्य का पालन करूँगा तो शायद वह रक्षा का निमित्त बन जाता, पर वह तो अपने को रक्षक मानने की भूल कर बैठा, जबकि रक्षक तो ईश्वर ही है। और जैसे गायें धँस जाती हैं, और अन्त में उसी प्रकार उसका रथ भी अधोगामी हो जाता है। यह मानो इसकी ओर संकेत है कि गुण-दोष की समस्या कितनी कठिन है। जब अच्छा काम करने चलें उस समय यदि वह काम करने में पूरा ध्यान है यही तो बहुत बढ़िया है, पर दान देने के साथ जहाँ दानी बने तो बस सर्वनाश हुआ। और कठिनाई यह है कि दान तो हम बाद में देते हैं, किन्तु दानी पहले बन जाते हैं। और अपेक्षित यह है कि हम दान तो दें पर दानी न बनें। और इस सूत्र का अभाव कर्ण के जीवन में दिखाई देता है। कर्ण को अपने सद्गुणों पर पूरा अभिमान है।

दूसरी कथा में यह वर्णन आता है कि उसे बाणों की विस्मृति क्यों हो गई? भीष्म परशुरामजी के शिष्य थे; किन्तु वे गुरुजी से ही युद्ध कर बैठे। इसलिए परशुरामजी को क्षोभ हुआ और उन्होंने प्रतिज्ञा कर दी कि अब वे क्षत्रियों को शस्त्र विद्या नहीं सिखाएँगे। आगे चलकर कर्ण के मन में इच्छा जाग्रत् हुई कि मैं शस्त्रविद्या प्राप्त करूँ और वह यह जानता था कि भगवान् परशुराम से अधिक अस्त्र-शस्त्र विद्या का ज्ञान किसी को नहीं है और उसे यह भी ज्ञात था कि उनके मन में क्षत्रियों के प्रति विरोध की वृत्ति है। इसलिए कर्ण गुरुसेवा का भाव लेकर परशुरामजी के पास गया। गुरु के रूप में उनका वरण किया और अपना परिचय ब्राह्मण के रूप में दिया। इसका अभिप्राय है कि जो आप हैं वही आप दिखाना चाहते हैं कि आप जो नहीं हैं वह दिखाने के लिये व्यग्र हैं! वस्तुतः सत्य तो

यह है कि आप जो हैं उसी स्थिति में अपने कर्तव्य का पालन करते हुए श्रेष्ठ हैं, पर यदि आप किसी जाति का वरण करके श्रेष्ठता का आश्रय लेकर के सफलता पाना चाहते हैं तो फिर आपके मार्ग के चुनाव में ही दोष है और परिणाम अन्त में कितना भयानक हुआ?

कहा जाता है कि कर्ण ने बड़ी सेवा की और परशुरामजी ने प्रसन्न हो करके सारी अस्त्र-शत्र विद्या कर्ण को दे दी, पर घूम-फिर करके फिर वह दुर्भाग्य उसके सामने आ गया। एक दिन थके हुए परशुरामजी कर्ण की जाँघ पर सिर रख करके लेट गए। उसी समय एक विषैला कीड़ा कर्ण की जाँघ को काटने लगा, काटते-काटते छेद बना दिया। किन्तु कर्ण बड़ा धैर्यशाली था। उसे यह लगा कि अगर मैंने जरा भी जाँघ को हिलाया तो गुरुजी की नींद खुल जाएगी। इसलिए हिला नहीं। पर कीड़े के काटने से जब रक्त निकला और रक्त स्पर्श परशुरामजी की पीठ से हुआ तो परशुरामजी जग गये और जब उन्होंने देखा कि कीड़े के द्वारा कर्ण की जाँघ में छेद कर दिया गया है तो वे प्रसन्न होने के स्थान पर रोष भरी दृष्टि से कर्ण को देखने लगे। कर्ण ने कहा, महाराज! आपकी नींद न खुल न जाय इसलिए कीड़ा काटता रहा पर मैं हिला नहीं। किन्तु बिगड़ करके परशुरामजी ने पहला प्रश्न यही किया कि सच-सच बता तू क्षत्रिय है कि ब्राह्मण है? क्योंकि ब्राह्मण में इतना धैर्य नहीं हो सकता, जितना धैर्य तुममें है, इसलिए तुम ठीक-ठीक बता दो। कर्ण ने चरणों को पकड़ लिया और कहा, गुरुदेव! मुझसे बड़ा अपराध हुआ, पर आपसे शस्त्र का ज्ञान प्राप्त करने के लिये मैं असत्य बोल गया था। मैं ब्राह्मण नहीं हूँ। और तब परशुरामजी ने क्रुद्ध होकर शाप दे दिया कि जाओ, जितने शस्त्र मैंने तुम्हें सिखाए हैं ठीक समय पर तुम उन्हें भूल जाओगे। इसका सांकेतिक अर्थ यह है कि जीवन में हमने जो पाठ पढ़े हैं—जो शास्त्र पढ़े हैं अगर वे समय पर याद न आवें, जीवन में उपयोगी सिद्ध न हों तब तो हमारा ज्ञान हमारे लिये बोझ है, हमारे सद्गुण हमारे लिये बोझ ही हैं। और हमारे जीवन में कल्याणकारी नहीं हो सकते।

इस सन्दर्भ में आपने तोते की प्रसिद्ध गाथा सुनी होगी। तोता अपने ही गुणों से बँध जाया करता है। क्योंकि बहेलिया पोले बाँस के टुकड़े को रस्सी में बाँध करके तोते को फँसाने के लिये जाल रचता है और

उसके आस-पास मिर्च आदि जो तोते को प्रिय लगने वाले पदार्थ हैं उन्हें फैला देता है। तोता उसको खाने के लिये उस बाँस की नली पर बैठता है और उसी समय वह नली नीचे की ओर सरक जाती है। तोता कस करके नली को पकड़ लेता है, चिल्लाता है, पर नली को नहीं छोड़ता, और तब तक बहेलिया आ करके उसे पकड़ लेता है। किसी सन्त ने यह दृश्य देखा तो उन्हें दया आई कि यह तो बड़ा बुद्धिमान् है, लाओ उसकी मूर्खता को हम दूर कर दें। उसने तोते को पाठ पढ़ाया कि बहेलिया के द्वारा लगाई हुई बाँस की नली पर तुम मत बैठना, और बैठ जाने के पश्चात् भी जब उलट जाओ तो उसे छोड़ देना, पकड़े मत रहना। वह पूरा पाठ तोते ने याद कर लिया। सिखाने वाले बड़े प्रसन्न हुए कि मैंने इसका संकट दूर कर दिया, पर उन्हें यह देख करके बड़ा आश्चर्य हुआ कि वही तोता उसी तरह से उल्टा हुआ है, और पाठ याद कर रहा है, पर नली को नहीं छोड़ रहा है। पहले की तरह ज्यों-का-त्यों अर्थ कर रहा है और बहेलिया ने अन्त में फिर पकड़ लिया। इसका अभिप्राय है कि जितना पाठ उसको पढ़ाया गया, उसने जीवन में उसका अर्थ ग्रहण नहीं किया, क्रियान्वित नहीं किया—ऐसी स्थिति में उसका जाना हुआ सत्य भला उसकी रक्षा कैसे करेगा? केवल रटा हुआ सत्य उसकी रक्षा कहाँ तक करेगा। मानो कर्ण के जीवन की यह जो विडम्बना है वह यह बताने के लिये है कि केवल गुण होने मात्र से ही आप प्रसन्न मत हो जाइए, कि हम तो महान् व्यक्ति हैं। कर्ण के समान गुण होते हुए भी अगर आप गुणाभिमान से मुक्त नहीं हैं तो रथ का पहिया धँसे बिना नहीं रहेगा। लेकिन भाई! पहिया अगर ठीक है पर उसका पताका ठीक नहीं है तो भी समस्या है। पहिये तथा पताका का परिचय देते हुए कहा गया कि—

सौरज धीरज तेहि रथ चाका।
सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥६९/५

धर्मरथ का पहिया शौर्य और धैर्य है और ध्वजा-पताका सत्य और शील हैं। कर्ण में धैर्य और शौर्य कितना है, पर परशुरामजी के प्रसंग में दिखाई देता है। पर उसका दुर्भाग्य यह है कि उसके जीवन में सत्य की ध्वजा कट चुकी है। यद्यपि संसार में प्रत्येक व्यक्ति गुण-दोष के मिश्रण से बना हुआ है। पर भगवान् का अभिप्राय यह है कि जो गुण-दोष का

सहायक है, जैसे—गुणवान् कर्ण उस दुर्योधन का सहायक है, जो दोषों का पुञ्ज है मानो गुण के द्वारा अगर व्यक्ति दोष की सेवा कर रहा है, दोष को बढ़ावा दे रहा है, तो ऐसी परिस्थिति में उस गुण को भी लोक कल्याण के लिये मिटाना होगा। इसलिए भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि इस विडम्बना भरे कर्ण के जीवन को तुम विनष्ट करो।

एक ओर अर्जुन है तो दूसरी ओर कर्ण है। अर्जुन भी गुणवान् है और कर्ण भी गुणवान् है पर अर्जुन के रथ के रक्षक भगवान् हैं। इस सन्दर्भ में महाभारत के युद्ध में एक बहुत बढ़िया बात आई है। युद्ध में नियम है कि सारथी पहले उतरता है और उसके पश्चात् महारथी उतरता है। इसी प्रकार युद्ध में नित्य रथ से पहले भगवान् उतरते थे और बाद में अर्जुन को उतारते थे। पर जिस दिन युद्ध समाप्त हुआ उस दिन भगवान् रथ पर बैठे रहे और अर्जुन से कहा कि आज पहले तुम उतर जाओ। आश्चर्य तो हुआ किन्तु अर्जुन रथ से उतर गये और उसके पश्चात् जब भगवान् उतरे तो उनके उतरते ही सारा रथ जलकर भस्म हो गया। अर्जुन चकित हो गया। महाराज! यह क्या हुआ? भगवान् ने कहा, अर्जुन! तुम्हारे प्रतिपक्षी योद्धाओं के बाणों द्वारा यह रथ तो न जाने कब से जलकर भस्म हो चुका था, वह तो मैंने इसे रोक रखा था। और यह बहुत बढ़िया बात है। याद रखिए गुण और दोषों के संघर्ष में क्या आप समझते हैं कि गुण ही दोष पर प्रहार करते हैं, दोष गुण पर प्रहार नहीं करते और क्या दोष में प्रहार की कोई साधारण क्षमता है? मानो संकेत यह था कि तुम यह समझने की भूल मत करना कि युद्ध में विजय तुम्हारी वीरता के कारण हुई। हाँ! रथ तो दिव्य था ही, पर उसकी दिव्यता केवल सारथी के कारण है। इसका तात्पर्य है कि जब हम गुण पर आरूढ़ होकर भी भगवान् का आश्रय लेकर बुराई से संघर्ष करेंगे, तो हम विजयी होंगे। कर्ण के मन में गुणाभिमान था; किन्तु कहीं अर्जुन में धर्माभिमान न हो जाय कि मुझमें इतने सद्गुण थे, इतनी योग्यता थी तभी तो मैं युद्ध में विजयी हुआ, इसलिए भगवान् ने यह लीला की। मानो भगवान् कहते हैं कि दोष को गुण से जीतिए, पर अन्त में गुण भी आहुति के रूप में भस्म हो जाए—मानो ऐसी स्थिति आ जाय कि जब न गुण रह जाय न दोष रह जाए, केवल भगवान् रह जाएँ। संसार में कोई ऐसा

व्यक्ति नहीं जहाँ यह गुण-दोष की समस्या न हो और अधिकांश व्यक्ति गुण का अभिमान पाल लेते हैं, और दोष की हीनता, ग्लानि मन में पाल लेते हैं लेकिन ऐसा वही करते हैं जो गुण-दोषों का उपयोग नहीं कर पाते।

महाराज श्रीदशरथ बड़े भारी योद्धा, बड़े धर्मात्मा हैं। जब देवताओं पर संकट आया; तो इन्द्र ने उनको निमन्त्रण दे दिया। और जब वे देवताओं की सहायता करने के लिये जाने लगे तो कैकेयीजी ने आग्रह किया कि मैं भी आपके साथ चलूँगी। कैकेयी बड़ी तेजस्विनी हैं। पति के प्रति उनके मन में अपार आकर्षण है और महाराज श्रीदशरथ भी कैकेयी के सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट हैं। परन्तु आप जरा सोचिए कि कैकेयी को ले जाना उनका दुर्भाग्य था कि सौभाग्य? कैकेयी पत्नी हैं, सुन्दरी हैं लेकिन जिस आसक्ति से प्रेरित होकर वे उनको युद्ध में लेकर गए, क्या वह उचित समय में उचित प्रयोग था? इस सन्दर्भ में मानस में एक बहुत सुन्दर संकेत किया गया है।

सेना लेकर सुबेल शैल पर विराजमान भगवान् श्रीराम विभीषण से कहते हैं कि जरा देखो तो दक्षिण दिशा में बादल छा रहे हैं, बिजली चमक रही है, बादलों की गर्जना सुनाई दे रही है। प्रभु का वाक्य सुनकर विभीषणजी कहने लगे, महाराज! ये बादल बिजली नहीं हैं। ये तो हमारे बड़े भाई रावण की नृत्यशाला के नृत्य का दृश्य है। उनके सिर का छत्र ही आपको बादल जैसा काला लग रहा है। हमारी भाभी मन्दोदरी के कान का ताटंक ही बिजली के समान चमक रहा है, और आप जिसे गर्जना समझ रहे हैं वह तबले की आवाज है।

वस्तुतः भगवान् श्रीराम तो रावण पर व्यंग्य कर रहे हैं। उनका अभिप्राय था कि नृत्य तो एक कला है और राजाओं के द्वारा नृत्यकला को संरक्षण मिलता है। भगवान् शंकर भी नृत्य करते हैं, भगवान् कृष्ण के चरित्र में भी नृत्य है। यहाँ पर भगवान् श्रीराम का दृष्टान्त बहुत सांकेतिक था।

वर्षा अच्छी है या बुरी। वर्षा को हम दोष मानें या गुण मानें। और उसका उत्तर यही है कि वर्षा उचित समय पर हो, उचित मात्रा में हो और उससे खेती हरी-भरी हो तब तो वर्षा बहुत अच्छी। पर यदि वर्षा असमय में हो जाए, अनावश्यक मात्रा में हो जाय या वर्षा पानी के रूप

में न बरस ओले के रूप में बरसने लगे तो उस बादल की हम प्रशंसा करें कि निन्दा करें? भगवान् राम ने यहाँ पर दार्शनिक दृष्टि से रावण के चरित्र की ओर संकेत करते हुए कहा—विभीषण! उचित अवसर पर प्रयोग नहीं करने पर गुण भी दोष बन जाता है। तुम देख लो, बिजली चमक रही है, बादल छाया हुआ है पर बेमौसम वाला बादल है, इसलिए प्रभु ने व्यंग्य किया—

देखु बिभीषन दच्छिन आसा।
घन घमंड दामिनी बिलासा॥६/१२/१

और उसके साथ-साथ एक परस्पर विरोधी शब्द यह भी कह दिया कि—

मधुर मधुर गरजइ घन घोरा।

मधुर-मधुर ध्वनि में घोर गर्जना हो रही है। क्योंकि भाई! मधुर होगी, तो उसके लिये घोर शब्द कैसा, और अगर घोर है तो उसके लिये मधुर शब्द किस काम का, पर आगे चलकर भगवान् राम ने कहा कि ओले की वर्षा हो रही है—

होइ वृष्टि जनु उपल कठोरा।६/१२/२

तो भई! जल और ओले में कोई अन्तर है क्या? और यहाँ पर फिर वही सूत्र दिया गया।

श्रीरामचरितमानस में जब भगवान् राम से श्रीभरतजी ने पूछा कि सन्तों के गुण और असन्तों के दोष बताइए। तो यद्यपि प्रभु ने बताए पर इसके साथ भगवान् ने एक विचित्र वाक्य यह कह दिया कि—

सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ तो अबिबेक॥७/४१/०

गुण और दोष अलग हैं ही नहीं। इसलिए गुण और दोष अलग देखना अविवेक है। इसको यदि गहराई से देखें तो लगता है कि सचमुच गुण और दोष अलग-अलग नहीं हैं; क्योंकि किसी वृत्ति का समय पर उपयोग ही सद्गुण है और उसी का असमय में उपयोग दुर्गुण बन जाता है। इसका सबसे अच्छा दृष्टान्त पानी और ओले का है—दोनों में कोई अन्तर है क्या? आप ओले को रख दीजिए, थोड़ी देर में पानी बन जाएगा। पर अन्तर आपने देखा। यदि पानी बरसे तो खेती हरी हो जाती है, पर अगर उसी पानी को ओला बना दें और ओले की वर्षा हो जाए,

तो सारी खेती चौपट हो जाए। मानो भगवान् श्रीराघवेन्द्र का संकेत यह था कि तुम्हारे भाई को न देश का ज्ञान है, न काल का ज्ञान है और न ही व्यवहार का ज्ञान है। रावण के जीवन का दुर्भाग्य यही है कि स्वयं भगवान् राम जिस देश में आए हुए हैं इस देश में उनका दर्शन न करके श्रीराम के सामने नृत्य देख रहा है, वस्तुतः इस समय तो उसे शरणागत होना चाहिए। शरणागति का अभिप्राय है भगवान् के सम्मुख होना और यह क्या है? यह भी सम्मुख होना है। क्योंकि जब कोई लड़ेगा तो भी सामने जाएगा और शरण में जाएगा तो भी सामने जाएगा। पर दोनों की सम्मुखता में भेद है।

शंकरजी जब मन से सतीजी का त्याग कर चुके थे उस समय जब सती उनके पास आयीं तो गोस्वामीजी लिखते हैं कि—

जाइ संभु पद बंदनु कीन्हा।
सन्मुख संकर आसन दीन्हा॥१/५९/४

शंकरजी ने उनको सामने आसन बिछाया कि आप यहाँ विराजिए। किसी ने कहा, महाराज! यह तो बहुत अच्छा है, श्रोता और वक्ता दोनों सम्मुख हों। सम्मुख बैठने के लिये तो श्रोता बड़ा व्यग्र रहता है। पर सबसे विचित्र बात आगे चलकर आती है। यही सती जब पार्वती बनीं और कथा सुनने के लिये आयीं तो वर्णन आता है कि—

बाम भाग हर आसन दीन्हा।

भगवान् शंकर ने पार्वती को बैठने के लिये अपने वाम भाग में आसन दिया, इसमें मानो संकेत यह है कि जब सम्मुख बैठाया तब विमुखता थी और जब वाम भाग में आसन दिया तब अनुकूलता थी। इसका अभिप्राय है कि महत्त्व शरीर का नहीं है, शरीर से आप चाहे किधर भी बैठे हों, पर मन से कहाँ हैं? श्रोता भी सम्मुख बैठता है और पण्डित जब शास्त्रार्थ करने के लिये बैठते हैं तो भी सम्मुख बैठते हैं। भगवान् शंकर ने सतीजी से कहा कि आप तो शास्त्रार्थ में बड़ी निपुण हैं इसलिए आपको सामने ही बिठाना ठीक है। जहाँ पर सम्मुखता में भी तर्क-वितर्क के द्वारा हराने की वृत्ति है वह क्या सम्मुखता है?

मनुजी के सामने जब भगवान् राम प्रकट हुए तो गोस्वामीजी से किसी ने पूछा—सीताजी कहाँ हैं? उन्होंने कहा—वाम भाग में। सुनने वाले

को लगा यह तो अनर्थ हो गया। अगर किसी के लिये कहें कि ये हमारे वाम हो गए, तो बड़ा अटपटा लगता है क्योंकि बाएँ का अर्थ है प्रतिकूलता। इसलिए गोस्वामीजी ने एक विशेष शब्द जोड़ दिया कि–

वाम भाग शोभति अनुकूला।

बाम भाग में तो हैं, पर प्रतिकूला नहीं हैं, अनुकूला हैं।

माँ से किसी भक्त ने पूछा कि आप तो अनुकूल हैं फिर बाएँ भाग में क्यों खड़ी होती हैं? श्रीसीताजी ने कहा–जहाँ स्थान खाली होता है वहीं व्यक्ति बैठता है। मुझे डर लगा कि बाएँ यदि खाली रहेगा तो कहीं जीव न वहाँ बैठ जाए, इसलिए मैं बाएँ बैठी रहती हूँ और श्रीलक्ष्मण के रूप में जीव को दाहिने कर दिया है। वर्णन भी यही आता है कि–

दक्षिणे लक्ष्मणो यस्य वामे च जनकात्मजा।

भगवान् राम सुबेल शैल पर मन्त्रणा कर रहे हैं, विचार कर रहे हैं और रावण सामने वाले शैल पर नृत्य देख रहा है। किन्तु भाई! नृत्य के समय नृत्य देखना तो उसकी सार्थकता है, पर जब विचार का क्षण हो, संघर्ष का क्षण हो, उस समय व्यक्ति अगर नृत्य, संगीत में डूब जाए, तो वह मानो नृत्य और संगीत की महिमा को भी समाप्त कर रहा है, उसका दुरुपयोग कर रहा है। भगवान् श्रीराम का अभिप्राय था, विभीषण! तुम्हारे भाई में जितनी बातें हैं सब की सब सद्गुण वाली ही हैं, पर दुर्भाग्य यह है कि वे सद्गुण भी उसके जीवन में दुर्गुण बन गये हैं। क्योंकि वह सदा उनका दुरुपयोग ही करता है और दुरुपयोग करने के कारण ही रावण दोषी या पापी कहलाता है। अगर यह सद्गुणों की वर्षा करके समाज को हरा-भरा बनाता, तो वह भी धन्य हो जाता है पर यह तो सद्गुण को दुर्गुण बनाकर, ओले के रूप में वर्षा करके सारे समाज को नष्ट करने पर तुला हुआ है। इस प्रकार मानो समय पर उपयोगिता ही, सद्गुण या दुर्गुण के मूल में है।

रावण पूरे जीवन भर दुरुपयोग करता रहा यह तो दशमुख की भूल है, पर महाराज श्रीदशरथ की भी एक ही भूल उनको महँगी पड़ी। जब वे युद्ध में लड़ने चले तब उन्होंने न तो कौसल्याजी को आमन्त्रित किया और न ही सुमित्राजी को। और साथ-साथ इन दोनों ने भी आग्रह नहीं किया क्योंकि वे घर में रहकर महाराज श्रीदशरथ के परिवार की रक्षा करती हैं। तथा महारानी के रूप में राज्य संचालन की सेवा भी करती

हैं। पर सौन्दर्य के प्रति आसक्ति की दुर्बलता उनके जीवन में थी। इसलिए वे महारानी कैकेयी को भी अपने साथ में ले गए। यद्यपि महाराज श्रीदशरथ धर्मरथ पर बैठकर अधर्म से लड़ने जा रहे हैं, लेकिन अगर कैकेयी को न ले गये होते तो सम्भवतः आगे जो घटना हुई वह न होती।

जब युद्ध हो रहा था, तो अचानक महाराज श्रीदशरथ के पहिये के धुरे की कील निकल गई। तब कैकेयीजी को चिन्ता हो गयी कि कील निकल गई, अब तो पहिया रथ से अलग हो जाएगा और रथ नीचे की ओर झुक जाएगा और जब गति होगी तो स्वाभाविक है कि रथ गिरेगा तथा महाराज घायल भी हो सकते हैं। यद्यपि महाराज श्रीदशरथ के जीवन में सारे सद्गुण थे, पर एक कील ढीली थी, इसका अभिप्राय है कि वैराग्य की कील द्वारा अगर उन्होंने अपने मन को सन्तुलित रखा होता तो यह अनर्थ न हुआ होता। पर कैकेयी की सुन्दरता की ओर जो उनका मन झुका हुआ है बस वह एक ही कील ढीली थी। उस पर ध्यान भी सबसे पहले कैकेयीजी का गया और उन्होंने तुरन्त अपनी दो अंगुलियाँ भी लगा लीं। जब महाराज श्रीदशरथ को ज्ञात हुआ, तो गद्गद हो गए–कैकेयी तुम मुझे कितना स्नेह करती हो, आज यदि तुम न होतीं तो मैं घायल हो जाता। किन्तु भाई! जरा विचार करके देखिए कितनी विचित्र विडम्बना है कि जिन दो अंगुलियों ने शरीर बचाया उन्हीं दो अँगुलियों ने अन्त में प्राण ले लिए। यदि वे युद्ध स्थल में न गयी होतीं तो, न तो अँगुलियाँ लगाई होतीं, न महाराज श्रीदशरथ को वरदान देने के लिये कहते और न महारानी कैकेयी इतना अन्यायपूर्ण वरदान माँगतीं। यह समस्या सर्वत्र है कि सद्गुण में पूरी तरह से परिपूर्णता नहीं मिलती। कोई कितना भी चाहे, कोई-न-कोई अभाव, कोई-न-कोई कमी तो रहेगी ही। कर्ण के रथ में भी है और महाराज श्रीदशरथ के रथ में भी है। ऐसी स्थिति में उस अपूर्णता को दूर करने का उपाय वही है जो अर्जुन ने किया। अर्जुन का रथ भी विनाशशील है। वह भी नष्ट होने वाला है और सामने वाले योद्धा भी बाण चलाने में बड़े निपुण हैं। लेकिन अर्जुन की एक बुद्धिमानी उसके काम आ गई।

जब यज्ञ होता है, पूजा होती है तो पूजा समाप्ति के बाद पण्डित लोग, आचार्य लोग एक श्लोक बोलते हैं जिसमें पूजा के मध्य जाने-अनजाने में होने वाले अपराध के लिये क्षमा-याचना की जाती है। इसका अभिप्राय

यह है कि व्यक्ति चाहे कितना भी सद्गुण सम्पन्न क्यों न हो, और चाहे कितना भी सावधान क्यों न रहे, पर क्या कोई यह दावा कर सकता है कि मुझसे कोई भूल नहीं होगी। और तब फिर एकमात्र उपाय वही है जो अर्जुन ने किया था। अर्जुन ने सारथी बना लिया भगवान् को, रथ की बागडोर पकड़ा दी भगवान् को, इसका अभिप्राय है कि महाराज; रथ जैसा भी है आपके हाथों में सौंप दिया। इसको चलाना न चलाना आपके बस की बात है। आप जैसे चाहें वैसे इसको चलाइए। और भाई! जब ईश्वर के हाथ में सद्गुणों के रथ की बागडोर चली गयी तो स्वाभाविक रूप से हमारी जो अपूर्णताएँ हैं, वे ईश्वर के द्वारा ही पूरी की जाएँगी।

इस सन्दर्भ में एक बात बड़े महत्त्व की यह है कि यहाँ पर शौर्य तथा धैर्य रथ के पहिये हैं। और बल, विवेक, इन्द्रियदमन तथा परोपकार ये चार रथ के घोड़े हैं। इन घोड़ों को लगाम से नियन्त्रित किया जाता है। पहिया उधर जाएगा जहाँ घोड़े जाएँगे, परन्तु चार घोड़ों में भी आगे वाले दो घोड़े जहाँ ले जाएँगे, वहाँ पीछे वाले घोड़ों को जाना पड़ेगा, किन्तु आगे वाले घोड़े भी वहाँ जाएँगे, जहाँ लगाम के द्वारा उनको ले जाया जाएगा। और दिशा वह बताएगा जो लगाम पकड़ता है अर्थात् सारथी।

आपका शौर्य और धैर्य का पहिया बहुत बढ़िया हो, चारों घोड़े भी अत्यन्त श्रेष्ठ हों; किन्तु फिर भी सावधान रहने की आवश्यकता है—क्योंकि चार में से दो घोड़ों को आगे करना है तथा दो को पीछे। हम किसको आगे स्थान दें और किसको पीछे, किसको साध्य बनावें और किसको साधन, इसका ध्यान रखें। यदि कहीं आपने बल और विवेक के घोड़े को आगे कर दिया तो पता नहीं ये चंचल घोड़े किधर ले जाएँगे—

ऐं मुँह जोर तुरंग लौं खैंचत हूँ चली जाही।

ये तो खींचने पर भी वश में नहीं आते हैं। इसलिए सबसे बढ़िया बात यही होगी कि सबसे आगे वे घोड़े रखे जाएँ जो नियन्त्रित हैं, अनुशासित हैं और ये दोनों घोड़े हैं—इन्द्रियदमन तथा परोपकार के घोड़े—इनको आगे लगा दीजिए और बल और विवेक के घोड़े इनके पीछे। और उसमें भी ध्यान रखिये, परोपकार के घोड़े के पीछे बल का घोड़ा होना चाहिए तथा इन्द्रियदमन के घोड़े के पीछे विवेक का घोड़ा। इसका तात्पर्य है कि हमारा विवेक इन्द्रियदमन का समर्थन करे और हमारे बल का उपयोग परोपकार

में हो। पर इतने से ही काम नहीं चलेगा, बढ़िया घोड़े हैं तो क्या हुआ? लगाम के बिना काम कैसे चलेगा और यह बहुत बढ़िया बात बताई गई। इतना गुणवान् होने के बाद लगाम की रस्सी दोहरी, तेहरी होनी चाहिए, जिससे घोड़े की चंचलता से लगाम कहीं टूट न जाय और वह तेहरी रस्सी है—

छमा कृपा समता रजु जोरे॥६/६/०

क्षमा, कृपा और समता इन तीनों को जब एकत्र कर देंगे, तो लगाम मजबूत होगी। इन तीनों गुणों पर आप ध्यान दीजिए। संसार में हमारे समक्ष अनेक प्रकार के व्यक्ति आते हैं। कुछ अच्छे होते हैं, कुछ प्रियजन होते हैं। कुछ दोषयुक्त होते हैं और कुछ ऐसे हैं कि जिनका हमारे प्रति न तो राग है न ही द्वेष। और व्यवहार करते समय जो अच्छे प्रकार के व्यक्ति हैं उनके प्रति हमारे मन में कृपा का उदय हो। जो दोषयुक्त हैं उनके प्रति क्षमा की वृत्ति का उदय हो। इस प्रकार मानो दोषी को क्षमा कीजिए तथा जो प्रियजन हैं उन पर कृपा कीजिए। पर उनके साथ-साथ समाज में अन्य व्यक्तियों के साथ समता की भी आवश्यकता है।

जब हमें किसी में गुण दिखाई दें तो हम गुण को महत्त्व दें, गुण को स्वीकार करें। जीवन में गुण को क्रियान्वित करने की चेष्टा करें। पर प्रश्न यह है कि जब दूसरे का दोष दिखाई दे, तब क्या करें? क्योंकि दोष तो सृष्टि में सब में होता है। इसका एक उपाय तो यह है कि जब हमें सामने वाले में दोष दिखाई दे, तो हम अपनी ओर भी देख लें कि हम इसमें जो दोष देख रहे हैं, कहीं ऐसा तो नहीं है कि हम भी उसी दोष से युक्त हैं। और जो दोष हममें हैं उनके लिये हम अगर दूसरे की आलोचना कर रहे हैं, तो ये तो हमारा अन्याय है। इस गुण-दोष के सन्दर्भ में भरतजी के प्रसंग में बहुत बढ़िया बात आती है। क्योंकि श्रीभरत तो इसके महान् आचार्य हैं।

चित्रकूट में श्रीभरत के आगमन का समाचार प्रभु को मिला और कोल किरातों ने यह भी कह दिया कि साथ में चतुरंगिणी सेना भी है। प्रभु ने जब सुना तो चिन्ता में डूब गए। वहाँ पर शब्द यही आया है कि—

एक आइ अस कहा बहोरी।
संग सेन चतुरंग न थोरी॥

सो सुनि रामहि भा अति सोचू।
इत पितु बच इत बधु संकोचू॥
भरत सुभाउ समुझि मन माहीं।
प्रभु चित हित थिति पावत नाहीं॥२/२२६/२

प्रभु व्याकुल हो गए। समझ गये कि भरत लौटाने के लिये आ रहे हैं और आज तक भरत ने मुझसे कभी कुछ करने के लिये नहीं कहा, अब यदि लौटाने के लिये कहेंगे तो मैं किस मुँह से नहीं कहूँगा। जो नित्य माँगता रहे उसे नहीं करने में संकोच नहीं रह जाता। पर जो कभी न माँगने वाला हो, वह यदि माँग ले तब बड़ा भारी धर्मसंकट आ जाएगा। यह सोचकर प्रभु अन्तर्द्वन्द्व में पड़ गये और जब श्रीलक्ष्मणजी ने प्रभु का अन्तर्द्वन्द्व देखा तो वे उतावले हो गए। जैसा उनका स्नेहमय स्वभाव है और बिगड़ खड़े हुए। उन्होंने यही कहा कि जो व्यवहार भरत कर रहे हैं ऐसा अगर कोई दूसरा करता तो मुझे कष्ट नहीं होता; क्योंकि जब कोई बुरा व्यक्ति बुरा आचरण करता है तो लोगों को आश्चर्य नहीं होता; क्योंकि उससे यही अपेक्षा की जा सकती है। एक ऐसा व्यक्ति जिसको हम भला मानते हैं, अगर उसके द्वारा कोई बुराई हो, तो सुन करके महान् कष्ट होता है और आज आश्चर्य तो यह है कि—

भरतु नीतिरत साधु सुजाना।
प्रभु पद प्रेमु सकल जगु जाना॥
तेऊ आजु राज पदु पाई।
चले धरम मरजाद मेटाई॥२/२२७/२

भरत जैसा महान् व्यक्ति भी राज्य पाकर बदल गया। पर यह कहने के बाद अचानक लक्ष्मणजी के भाषण की दिशा मुड़ गई। उन्होंने कहा, नहीं-नहीं भरत को हम क्या कहें, वस्तुतः यह तो सृष्टि का स्वभाव ही है। केवल भरत ही पहले व्यक्ति नहीं हैं जो अच्छे से बुरे बन गये हों, उनसे पहले भी व्यक्ति अच्छे से बुरे बनते आए हैं और तब उनको एक-एक करके इतिहास के पात्रों की याद आने लगी। उन्होंने कहा कि—

ससि गुर तिय गामी नघुषु चढ़ेउ भूमिसुर जान।
लोक बेद तें बिमुख भा अधम न बेन समान॥२/२२/८२०
सहसबाहु सुरनाथु त्रिसंकू।
केहि न राजमद दीन्ह कलंकू॥

सत्ता पाकर के व्यक्ति उन्मत्त हो जाता है। इसलिए भरतजी भी पद पा करके उन्मत्त हो गये हैं। पर अब प्रभु की दृष्टि देखिए।

लक्ष्मणजी भरतजी में दोष रख रहे हैं। यद्यपि भरत में दोष है नहीं; पर देख रहे हैं। अब प्रश्न यह है कि यह दोष देखना उचित है कि अनुचित? यहाँ पर बड़ी सूक्ष्म-सी रेखा है। अगर बहिरंग दृष्टि से देखें, तो बड़ी विचित्र-सी बात लगती है। क्योंकि भक्तिशास्त्र में तो किसी बुरे व्यक्ति में भी दोष नहीं देखने की बात कही गयी है। फिर इतने अच्छे श्रीभरत और उनमें दोष भी इतने कि उनके लिये श्रीलक्ष्मणजी ने जो उपाधियाँ लगा दीं वे तो एक से एक बढ़कर हैं। वे कहते हैं कि—

कुटिल कुबंधु कुअवसरु ताकी।
जानि राम बनवास एकाकी॥
करि कुमंत्रु मन साजि समाजू।
आए करै अकंटक राजू॥
कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई।
आए दल बटोरि दोउ भाई॥२/२२७/४

इस प्रकार, सभी प्रकार की उपाधियाँ उन्होंने दे डालीं। पढ़कर लगता है कि कितना दोष-दर्शन है लक्ष्मणजी में। लेकिन भाई; मैं तो यह कहूँगा कि यदि लक्ष्मणजी जैसा दोष-दर्शन हो, तो रंचमात्र कोई बुराई नहीं है। क्योंकि लक्ष्मणजी का दोष-दर्शन किसी व्यक्तिगत अहंकार के कारण नहीं है। सबसे बड़े महत्त्व की बात यह है कि दोष देखने वाले का उद्देश्य क्या है? अगर दोष देखनेवाले का उद्देश्य दूसरे को नीचा दिखाना हो, सामने वाले की निन्दा करना हो, तो वह दोष-दर्शन बड़ा घातक है। यह जिसकी निन्दा की गयी न तो उसके लिये अच्छी है और न ही निन्दा करने वाले के लिये अच्छी है। एक अध्यापक भी विद्यार्थी को पढ़ाते समय उसका दोष देखता है, किन्तु उस दोष-दर्शन की विशेषता यह है कि उसके दोष-दर्शन में दोष देखने की वृत्ति न हो करके वात्सल्य की वृत्ति है। इसी प्रकार वस्तुतः लक्ष्मणजी का दोष-दर्शन स्नेह से भरा हुआ है। उनका अपना न तो कोई व्यक्तिगत मित्र और न शत्रु है। उनको तो बस उनकी माँ ने महामन्त्र दे दिया है। माँ सुमित्रा ने कहा पुत्र लक्ष्मण! कौन प्रिय है, कौन पूज्य है, इसके लिये जाति की दृष्टि से, पंक्ति की दृष्टि से अथवा

कुल की दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता नहीं। अपितु बस इतना सूत्र पकड़ लो कि–

पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते।
सब मानिअहिं राम के नाते॥२/७३/७

नाता बस केवल श्रीराम का होना चाहिए। अब यहाँ जो दोष-दर्शन है उसमें न तो व्यक्तिगत स्वार्थ है और न व्यक्तिगत अहंकार है। उनमें तो केवल श्रीराम के प्रति प्रेम है और वे इस बात से बड़े ही दुःखी हैं कि श्रीभरत जैसा व्यक्ति जो प्रभु के चरणों में प्रेम करने वाला है, वह भी इतना बदल गया। हाय-हाय उसका इतना बड़ा पतन हो गया। वस्तुतः यहाँ जो दोष-दर्शन है उसके मूल में श्रीलक्ष्मण की प्रीति है, उनके हृदय की विशालता है, किसी प्रकार का द्वेष नहीं है। उसका पता आगे चलकर लगा। बहुधा जब कोई व्यक्ति एक बार किसी का दोष देख ले, तो फिर उसमें गुण दिखाई देने पर भी वह असूया वृत्ति से उसकी भी व्याख्या यह कहकर करता है कि तुम नहीं जानते हो, मैं जानता हूँ कि इसके पीछे क्या बात है।

यहाँ पर दोष-दर्शन हुआ और लड़ाई करने को प्रस्तुत हो गए। भगवान् श्रीराम ने सोचा जरा लक्ष्मण को रोकें, पर लक्ष्मणजी ने तो उल्टे प्रभु को ही रोक दिया। उन्होंने कहा, महाराज! आप कृपा करके बोलने का कष्ट मत कीजिए। क्योंकि आपका भाषण तो मैं पहले से जानता हूँ कि आप क्या बोलेंगे? लक्ष्मणजी का स्वभाव दूसरा, प्रभु का स्वभाव दूसरा। प्रथम दृष्टि में तो यही दिखाई देता है कि लक्ष्मणजी के स्वभाव में दोष-दर्शन है। उन्होंने जनक का भी दोष देखा, परशुरामजी का भी दोष देखा। महान् ज्ञानी जनक के ज्ञान में उनको कमी दिखाई दी और वे उनको भी फटकारते हुए कह देते हैं कि–

कही जनक जस अनुचित बानी।
विद्यमान रघुकुलमनि जानी॥१/२५२/२

जनक ने इतनी अनुचित वाणी कह दी। इस प्रकार जनक अनुचित बोलने वाले हैं, यह कहने वाले भी लक्ष्मण हैं। और परशुरामजी को तो हर तरह से उन्होंने फटकारा तथा उनमें अनेक दोष निकाल करके रख दिए और आज भरतजी में भी दोष निकाल दिए। लेकिन विचित्रता यह है कि तीनों के मन में लक्ष्मणजी के प्रति अन्त में अत्यन्त सम्मान तथा

आदर की भावना आ गई। जनक को जब भरी सभा में फटकार पड़ी तो पहले संकोच में पड़ गए। लेकिन जब लक्ष्मण की गर्जना के बाद श्रीराम ने उठकर धनुष तोड़ दिया, तो वे इतने गद्गद हो गये कि आँखों में आँसू भरकर उन्होंने महर्षि विश्वामित्र से कहा–गुरुदेव! हम आपके और श्रीराम के तो आभारी हैं ही, लेकिन आप लोगों से भी अधिक आभारी लक्ष्मण के हैं। उनका शब्द था–

मोहि कृत कृत्य कीन्ह दुहुँ भाई।१/२८५/६

वस्तुतः श्रीराम को प्रेरित करके इस कार्य को सम्पन्न कराने वाले तो श्रीलक्ष्मणजी ही हैं। भूल तो मुझसे हो रही थी, पर इन्होंने मेरी बहुत बड़ी भूल और मेरे अज्ञान को मिटा दिया। मैं तो समझता हूँ कि दोनों भाइयों ने दो अलग-अलग वस्तुएँ तोड़ीं। श्रीराम ने धनुष तोड़ दिया और श्रीलक्ष्मण ने मेरा भ्रम तोड़ दिया। इसलिए दोनों भाइयों ने एक-एक धनुष तोड़ करके हमें कृतकृत्य कर दिया और परशुरामजी प्रारम्भ में बड़े रुष्ट थे। पर अन्त में जब जाते हैं तो यही कहकर जाते हैं कि–

अनुचित बहुत कहेउँ अग्याता।
छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता॥१/२८४/६

आप दोनों भाई क्षमा-मन्दिर हैं और परशुरामजी ने लक्ष्मणजी को धन्यवाद दिया कि अगर आप न होते, तो मुझे श्रीराम के स्वरूप का ज्ञान कौन कराता? क्योंकि श्रीराम मेरे सामने जितनी विनम्रता से बोल रहे थे, उससे मैं उन्हें क्षमा करके यह कहकर चला जाता कि तुमने भूल तो बहुत बड़ी की है पर जब तुम इतने विनम्र भाव से क्षमा माँगते हो, तो मैं क्षमा करता हूँ। और यदि क्षमा करके चला जाता तो सबसे बड़ी हानि में मैं ही रहता। क्योंकि पूर्ण ईश्वर को पाकर भी बिना पहचाने उसे मनुष्य समझकर लौट जाना यह मेरा दुर्भाग्य होता। इसलिए आपने बहुत बड़ा उपकार किया, जो मेरे प्रति ऐसी वाणी का प्रयोग किया और श्रीभरत तो शाश्वतरूप से लक्ष्मणजी के प्रशंसक हैं। उनका तो एक ही निश्चय है कि–

लालन जोगु लखन लघु लोने।
भे न भाइ अस अहहिं न होने॥२/१६६/१

लक्ष्मण के समान भाई विश्व के इतिहास में न तो हुआ है और न ही आगे होगा। वे तो यही कहते हैं कि–

अहह धन्य लछिमन बड़ भागी।
राम पदारबिन्द अनुरागी॥

लक्ष्मण धन्य हैं, प्रभु के चरणों में उसका कितना अनुराग है!

वस्तुतः लक्ष्मणजी का दोष-दर्शन ऐसा है कि जिसमें कोई व्यक्तिगत द्वेष नहीं है, व्यक्तिगत अहंकार नहीं है, व्यक्तिगत ईर्ष्या भी नहीं है और न ही असूया वृत्ति है। इसलिए यह दोष-दर्शन, दोष-दर्शन होते हुए भी अत्यन्त कल्याणकारी है। दूसरी ओर श्रीराम, लक्ष्मणजी से ठीक उल्टे हैं और जब उन्होंने रोकना चाहा, तो लक्ष्मणजी ने कहा, महाराज! आप कष्ट मत कीजिए बोलने का, क्योंकि जब मैं पूछूँगा कि भरत कैसे हैं तो आप क्या कहेंगे, ये भी मुझे पता है। भगवान् श्रीराम ने जानना चाहा कि तुम्हें कैसे पता चल गया? तो उन्होंने कहा—महाराज! आपका उत्तर तो रटा-रटाया है। क्योंकि—

नाथ सुहृद सुठि सरल चित सील सनेह निधान।
सब पर प्रीति प्रतीति जियँ जानिअ आपु समान॥२/२२७/०

आपको दोष देखना तो आता ही नहीं। दोनों भाई बिल्कुल ही अनोखे हैं। लक्ष्मणजी यदि दोष देखने की कला में बड़े प्रबुद्ध प्रतीत होते हैं तो प्रभु की आँखों की समस्या यह है कि उन्हें दोष दिखाई ही नहीं देता। लक्ष्मणजी कहते हैं कि क्या आपकी आँखों में दोष देखने की शक्ति है कि जो भरत में दोष देख पाएँगे, वह तो मैं देखूँगा। श्रीरामभद्र में दोष देखने की क्षमता नहीं है, इस बारे में लक्ष्मण और भरत दोनों एकमत हैं। भरतजी ने कहा—प्रभु! मैं आपके विषय में जानता हूँ कि—

देखि दोष कबहुँ न उर आने।२/२६८/४

आप दोष देखना जानते ही नहीं और अब आपको कोई दोषी लगता ही नहीं, तो आप सबको स्वीकार करने के लिये प्रस्तुत हैं।

लक्ष्मणजी का दोष-दर्शन उस प्रकार का है, जैसे माँ का बालक के प्रति होता है। बालक यदि पिता की गोद में जाना चाहे और पिता इतना उदार हो कि गन्दे बच्चे को भी गोद में ले लेने के लिये प्रस्तुत हो, पर माँ को यह चिन्ता हो कि नहीं-नहीं, बालक को जरा नहला-धुलाकर स्वच्छ करके पिता की गोदी में भेजा जाए। लक्ष्मणजी पहले दोषों को दूर कर देते हैं और फिर कहते हैं कि अब जाओ, क्योंकि प्रभु तो दोष देख नहीं पावेंगे, वहाँ तो तुम जैसे हो वैसे ही चले जाओगे। इसलिए तुम्हारे निर्माण

के लिये दोष-दर्शन का कार्य मेरा है। वहाँ तो तुम्हें कृपा की अनुभूति होगी। पर कृपा की अनुभूति के पहले तुम्हारे कल्याण के लिये मेरा प्रहार आवश्यक है।

श्रीलक्ष्मणजी ने कह दिया कि जब आपको दोष देखना आता ही नहीं तो आप कह देंगे कि भरत तो बड़े सज्जन है। प्रभु मुस्कुराकर चुप हो गए। सचमुच वे तो यही कहने वाले थे। पर अचानक आकाशवाणी हुई और देवताओं ने कहा—

तात प्रताप प्रभाउ तुम्हारा।
को कहि सकइ को जाननिहारा॥
अनुचित उचित काजु किछु होऊ।
समुझि करिअ भल कह सबु कोऊ॥
सहसा करि पाछे पछिताहीं।
कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं॥२/२३०/२

बिल्कुल दोष-दर्शन का आग्रह नहीं। देवताओं ने अनुरोध किया कि आपका प्रताप और प्रभाव तो महान् है पर महाराज! उचित समय पर उचित व्यक्ति पर ही इस क्रोध का प्रयोग करना चाहिए। और जैसे ही इतना वाक्य सुना तो वर्णन आया है कि—

सुनि सुर बचन लखन सकुचाने।
राम सीयँ सादर सनमाने॥२/२३०/५

श्रीलक्ष्मणजी संकोच से गड़ गए। प्रभु को मुस्कुराने का अवसर मिला। हँस करके प्रभु ने देखा, क्या हुआ तुम तो भरत को प्रमाण-पत्र दे रहे थे। मेरी बात सुनने के लिये तो तुम प्रस्तुत ही नहीं थे, अब देवताओं की बात तुमने स्वीकार कर ली। तो क्या मेरी अपेक्षा देवता तुम्हें अधिक योग्य लगते हैं कि तुमने उनकी वाणी सुनकर उसे मान लिया। लक्ष्मणजी ने कहा, प्रभु! सच बात तो यह है कि देवता पक्के स्वार्थी हैं और स्वार्थी व्यक्ति खोटे-खरे की बढ़िया परख करता है, लेकिन आपको खोटे-खरे की परख है ही नहीं। इसीलिए आपने कहा तो मुझे सन्देह बना रहा, पर जब देवताओं ने कहा, तो मैं समझ गया। यह लोग तो किसी प्रकार से भी बिना परखे नहीं कहेंगे।

इस समय भगवान् राम ने लक्ष्मण जी को फटकारा नहीं कि तुमने

इतने बड़े सन्त की निन्दा क्यों की। बल्कि वर्णन आया है कि–

राम सीय सादर सनमाने।

भगवान् राम और श्रीसीताजी ने बड़े प्यार से उन्हें बुलाकर अपने बीच में बिठा लिया और प्रभु ने सिर पर हाथ रखकर बड़ी युक्ति से कहना प्रारम्भ किया। प्रभु ने कहा कि–

कही तात तुम्ह नीति सुहाई।
सब तें कठिन राजमदु भाई॥२/२३०/६

लक्ष्मण! तुमने जो भी बात कही है वह अनुभव की कही है, तथा नीति के अनुकल कही है। सचमुच राजमद सबसे अधिक कठिन है। तुम बिल्कुल ठीक कहते हो–

जो अचवँत नृप मानहि तेई।
नाहि न साधु सभा जेहि सेई॥२/२३०/७

प्रभु ने बड़ा सुन्दर दृष्टान्त दिया। लक्ष्मण! अगर तुम यह सोचते हो कि जब व्यक्ति में दोष-गुण दोनों होता है तो भरत में भी होगा, तो मैं तुम्हें यह बताना चाहता हूँ कि बात तो तुम्हारी ठीक है, क्योंकि सृष्टि तो गुण-दोषमयी है, पर गुण-दोषमयी होने पर भी जैसे जल और दूध मिलाकर रख दिया जाए, तो बुद्धिमान् से बुद्धिमान् व्यक्ति तथा पण्डित के लिये भी उसे अलग करना कठिन है। लेकिन कम से कम एक पक्षी तो ऐसा है जो दूध को पी लेता है और जल को अलग करके छोड़ देता है। इसी प्रकार–

भरतु हंस रबिबंस तड़ागा।
जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥
गहि गुन पय तजि अवगुन बारी।
निज जस जगत कीन्हि उजिआरी॥२/२३१/६

वस्तुतः भरत तो हंस हैं और यदि ऐसी हंसवृत्ति हमारे जीवन में आ जाय कि हम दोष-गुणयुक्त संसार में से दोष का परित्याग करके, गुण को अपने जीवन में उतार लें, तो मानो यह भी द्वन्द्व की समस्या का एक समाधान है, जो श्रीभरत के चरित्र में देखने को मिलता है। श्रीरामचरित मानस में भगवान् श्रीराम, श्रीलक्ष्मणजी तथा श्रीभरत, ये तीन अलग-अलग पात्र हैं। श्रीलक्ष्मणजी ने दोष देखा, किन्तु उनके दोष देखने में भी दोष

नहीं है, क्योंकि वहाँ ईर्ष्या, असूया तथा द्वेष नहीं है। भगवान् राम दोष नहीं देखते, वह उनके स्वभाव की करुणा और कृपा का परिचायक है, जिसके बिना जीव के अपराध क्षमा कैसे होंगे? अगर प्रभु ही अपनी आँखों से जीव के अपराधों का न्याय करने लगें, तो फिर बेचारे जीव की क्या दशा होगी? विनयपत्रिका में गोस्वामीजी कहते हैं–प्रभु! अगर आप मेरे अवगुण पर विचार करने बैठेंगे तो सौ करोड़ कल्प तक भी मेरा कल्याण नहीं होगा। मेरा कल्याण तो आपकी करुणा के द्वारा ही सम्भव है और करुणा तो गुण-दर्शन के द्वारा ही आती है। दोष-दर्शन से तो रोष आता है। यह प्रभु की दृष्टि है। तीसरे श्रीभरत हैं। इनके गुण-दोष का एक अलग शास्त्र है। श्रीभरत तो अपने में दोष ही दोष देखते हैं। यह एक तीसरी कला है। इसका अभिप्राय है कि अगर दोष देखना बहुत आवश्यक लगे, तो दोष देखने के लिये आँखें बाहर के बदले भीतर की ओर मोड़ दीजिए और यह देखिए कि हममें कितने दोष हैं। श्रीभरतजी यही कहते हैं। यद्यपि श्रीभरत कैकेयीजी पर अत्यन्त रुष्ट हैं, उनके प्रति कठोर शब्द भी कहते हैं पर जब शत्रुघ्नजी मन्थरा को घसीटने लगे तो उसे छुड़ा दिया। क्यों बचा लेते हैं? इसके पीछे भरतजी की क्षमावृत्ति सामने आती है–

क्षमा कृपा समता रजु जोरे।

श्रीभरत ने कहा, शत्रुघ्न! तुम मन्थरा को किस बात के लिये दण्ड दे रहे हो? महाराज! 'उसने इतना बड़ा अपराध किया।' श्रीभरतजी ने कहा–शत्रुघ्न! अपराधिनी मन्थरा है कि कैकेयीजी हैं? वस्तुतः यह तो एक साधारण दासीमात्र है। महारानी अगर दासी की बात मान करके इतना अनर्थ कर बैठीं तो क्या तुम यह दण्ड कैकेयीजी को भी दे सकते हो? और इतना ही नहीं, यदि दे सकते हो, तो केवल कैकेयीजी को ही नहीं मुझे भी देना चाहिए। परन्तु मन्थरा को तो बिल्कुल नहीं देना चाहिए। क्यों? कैकेयीजी ने जो अनर्थ किया, वह अपने लिये नहीं किया, मेरे लिये किया और मन्थरा ने जो चेष्टा की वह अपनी स्वामिनी के हित के लिये की है। और ऐसी परिस्थिति में अगर तुम अन्य किसी को दण्ड न दे करके मन्थरा को दोगे, तो यह लगेगा कि दण्ड केवल असमर्थ को मिलता है। समर्थ अगर दोष भी करे तो वह दण्ड से बच जाता है। यह

तो न्याय की मर्यादा नहीं है। इस प्रकार श्रीभरत का दोष-दर्शन दूसरी तरह का है। वे तो केवल अपने में दोष देखते हैं और यही कहते हैं कि–

मैं सठ सब अनरथ के हेतु।

पर जब चित्रकूट में गये तो भगवान् श्रीराघवेन्द्र ने उलट दिया। उन्होंने कहा–भरत! मैं पहले ही कह चुका हूँ और आज भी कहता हूँ कि–

तीनि काल तिभुअन मत मोरें।
पुन्य सिलोक तात तर तोरें॥२/२६२/६

तीनों लोक में और तीनों काल में जो पुण्यात्मा हुए हैं वे सब तुमसे पीछे हैं, तुमसे छोटे हैं और लगे श्रीभरत का गुणगान करने। इसके पश्चात् जब उन्होंने श्रीभरत की ओर देखकर उनसे पूछा, भरत! मैंने जो कहा वह ठीक है कि नहीं। अब बड़ा संकट है क्योंकि भगवान् श्रीराम कहते हैं–तुम सबसे बड़े पुण्यात्मा हो और श्रीभरत कहते हैं कि मैं सबसे बड़ा पापी हूँ–

मो समान को पाप निवासू।

किन्तु प्रभु ने कहा कि अगर तुम मुझे सत्यवादी मानते हो तो आगे से कभी मत कहना कि मुझमें यह दोष है। अच्छा यह बताओ कि मैं सत्यवादी हूँ या नहीं। क्योंकि दोनों में से एक ही तो सत्यवादी होगा। लेकिन श्रीभरतजी ने कहा–नहीं प्रभु! आप भी सत्यवादी हैं और मैं भी सत्यवादी हूँ। क्योंकि जो दिखाई दे वही यदि कहें तो लोग कहेंगे कि यह सत्य कह रहा है। वस्तुतः आँखों में तो दोष देखने की शक्ति है नहीं। इसलिए भरत का दोष दिखाई नहीं दे रहा है तो आप भी सत्यवादी हैं और मेरी आँखों में अपना दोष देखने की शक्ति है। इसलिए मैं भी सत्यवादी हूँ। मैं भी ठीक कह रहा हूँ कि मुझमें दोष है और आप भी ठीक कह रहे हैं कि भरत तुममें दोष नहीं है।

भगवान् श्रीरामभद्र ऐसे मानने वाले नहीं थे। प्रभु ने कहा, अच्छा, भरत! मैं दोष देखना नहीं जानता, तो कोई बात नहीं; लेकिन गुण तो देखना जानता हूँ और तुममें मुझे जो गुण दिखाई देते हैं, उसके लिये तुम्हें क्या कहना है? उस समय श्रीभरत ने बहुत बढ़िया उत्तर दिया। उन्होंने कहा, प्रभु! तोता अगर बहुत बढ़िया पाठ पढ़ने लगे और बन्दर बहुत

सुन्दर नाचने लगे तो यह विशेषता पाठ पढ़ाने वाले और नचाने वाले की है कि बन्दर और तोते की? प्रभु ने कहा कि यह तो निःसन्देह पढ़ाने और नचाने वाले की विशेषता है। तुरन्त श्रीभरतजी ने कहा–प्रभु! बस समझ लीजिए कि–

यों सुधारि सनमानि जन किए साधु सिरमोर।
को कृपाल बिनु पालिहैं बिरिदावलि बरजोर॥
कृपा भलाई आपनी नाथ कीन्ह भल मोर।
दूषन भे भूषन सरिस सुजसु चारु चहुँ ओर॥२/२९९/०

क्या सुन्दर व्याख्या कर दी भरतजी ने। बोले, प्रभु मुझमें तो दोष ही दोष थे–पर आपका चमत्कार यही है कि आप दूषण को भी भूषण बना देते हैं। इसलिए भरत में जो भूषण आपको दिखाई दे रहा है, वह आपका बनाया हुआ ही है, इसका श्रेय आपको है। इस प्रकार गुण-दोष देखने के लिये श्रीभरत की दृष्टि, लक्ष्मणजी की दृष्टि तथा भगवान् राम की दृष्टि, यह तीन दृष्टियों का परिचय हमें प्राप्त होता है। इसका अभिप्राय है कि दोष-गुण के सन्दर्भ में रामकथा में जो अनेक सूत्र दिए गये हैं उनके द्वारा हम गुण-दोष को देखने की दृष्टि पा सकते हैं।

□

॥श्रीरामः शरणं मम॥

अष्टम प्रवचन

आइए! कथा के सन्दर्भ में जिन-जिन वस्तुओं की विशेष आवश्यकता है, रामकथा की मन्दाकिनी में स्नान करके उन पर चिन्तन करें। कथा के श्रोताओं को देख करके यद्यपि प्रसन्नता होती है; किन्तु कथा की महिमा के सन्दर्भ देखें तो कथा का जैसा प्रभाव सुनने वालों के जीवन पर पड़ना चाहिए वैसा नहीं दिखाई देता, तब यह जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से होती है कि कथा की जो महिमा लिखी हुई है या तो वह अर्थवाद है, अतिशयोक्ति है और या उसके साथ-साथ कुछ अन्य वस्तुओं की भी आवश्यकता है। इसका उत्तर यह है कि रामकथा की महिमा का जो भी वर्णन किया गया है वह अधिक न होकर कम ही है। किन्तु रामकथा जैसे सुनी जानी चाहिए, जैसे उस पर विचार तथा चिन्तन करना चाहिए बहुधा श्रोताओं के द्वारा वह नहीं किया जाता। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में उसके लिये तीन विशेष शब्द कहे गये हैं और वे शब्द हैं श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन। सुनना, फिर उस पर मनन करना और मनन करने के बाद वैसा ही आचरण जीवन में उतारना। श्रीरामचरित मानस में मानस-सर की जो भूमिका है, उसमें भी इसकी ओर संकेत किया गया है। कथा क्या है और श्रोता में क्या विशेषता होनी चाहिए, इस सन्दर्भ में यह बताया गया है कि वक्ता की अपेक्षा श्रोता में न्यूनता नहीं, अपितु श्रोता तो कथावाचक की अपेक्षा भी अधिक योग्य होना चाहिए। इसलिए रामचरितमानस में दोहा लिखा गया कि–

श्रोता सुमति सुसील सुचि कथा रसिक हरिदास।
पाइ उमा अति गोप्यमपि सज्जन करहिं प्रकास॥७/६९ (ख)

इसमें श्रोता के साथ जितने गुणों को जोड़ा गया है, उसकी जो विशेषताएँ इस दोहे में कही गयी हैं, या मानस-सर के रूपक में–गोस्वामीजी ने जो सूत्र दिया है, उसका अभिप्राय क्या है, आइए इस पर थोड़ा विचार करें।

गोस्वामीजी एक मानसरोवर की भावना में एक काव्यमयी कल्पना का आश्रय लेते हैं। उस सन्दर्भ में वे यह क्रम बताते हैं कि जैसे मेघ समुद्र से जल लेकर आता है, वर्षा करता है और नीचे यदि कोई सरोवर हो तो उसमें वह जल भर जाता है और सरोवर के माध्यम से वह जल नीचे वाले व्यक्ति को प्राप्त हो जाता है। उन्होंने कहा कि इसी प्रकार ये वेद और पुराण ही समुद्र हैं तथा सन्त ही मेघ हैं–

बेद पुरान उदधि घन साधू।

वेद पुराण समुद्र हैं और सन्तजन या कथावाचक मेघ हैं। सन्त की विशेषता यह है कि समुद्र में जल होते हुए भी व्यक्ति समुद्र के किनारे प्यास का अनुभव करता है, क्योंकि जल का खारापन मिटाने की क्षमता उसमें नहीं है। इसलिए जब वह जल पियेगा तो जल का खारापन भी उसके भीतर जाएगा और खारेपन के कारण न तो जल में स्वाद आएगा और न ही उसे तृप्ति मिलेगी। पर मेघ की विशेषता यह है कि समुद्र के जल का खारापन मिटा करके वह उसमें मिठास डाल देता है। इसी प्रकार से वेद-पुराणों का अध्ययन यदि सभी व्यक्ति अपनी-अपनी बुद्धि से ही करने लगें, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि वेद मन्त्रों की गरिमा का अनुभव कर पाना बड़ा कठिन होगा। महाभारत तथा पुराणों में जो कथाएँ आती हैं, वे इतनी अटपटी हैं, उनमें ऐसी विचित्र-विचित्र बातें कही गयी हैं कि पढ़ने वाला व्यक्ति कभी-कभी विचलित होता हुआ दिखाई देता है।

एक बड़ी प्रसिद्ध जन धारणा है कि किसी गृहस्थ को महाभारत आद्योपान्त नहीं पढ़ना चाहिए। इसके निराकरण के लिये उन्होंने कहा कि यह ग्रन्थ घर में नहीं रखना चाहिए। सुनकर बात बड़ी विचित्र लगती है कि भगवान् व्यास का इतना दिव्य ग्रन्थ महाभारत जिसके लिये कहा गया है कि जो महाभारत में नहीं वह कहीं नहीं है ओर जो अन्यत्र कहीं भी हो सकता है, वह महाभारत में अवश्य है। जिस महाभारत की इतनी महिमा कही गई, इसके सन्दर्भ में यह कैसी विचित्र धारणा है? अगर गहराई से इस पर विचार करके देखें, तो इसमें भी एक तथ्य आपको अवश्य मिलेगा।

महाभारत में जिस प्रकार से घटनाओं का वर्णन किया गया है अगर एक अधकचरी बुद्धि वाला व्यक्ति उन्हें पढ़े, तो उसके मन-मस्तिष्क पर उसका कभी भी अच्छा प्रभाव नहीं पड़ेगा। यह समस्या रामायण के साथ इतनी नहीं है, जितनी महाभारत के साथ है। आप लोगों में से जिन्होंने महाभारत को आद्योपान्त पढ़ा होगा, उन्होंने यह महसूस किया होगा कि उसमें ऋषि-मुनियों के जीवन चरित्र को लेकर, उस समय के महापुरुषों को लेकर कितनी अटपटी कथाएँ आती हैं और तब व्यक्ति विचलित होकर सोचने लग जाता है कि उस युग से अच्छा तो हमारा युग है। ऐसा कहने वाले अनेक व्यक्ति हैं। उनको लगता है कि चरित्र का जो पतन महाभारत युग में है, वैसा तो आज भी नहीं है। इसलिए ग्रन्थों के साथ यह बड़ी समस्या है कि लिखने वाले जो ऋषि हैं, उन्होंने तो ग्रन्थ का पूर्ण प्रतिपादन अपनी पद्धति से किया है। लेकिन व्यक्ति के मन-मस्तिष्क पर उसका अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता और तब प्रश्न यह है कि इसका उपाय क्या है? इस समस्या का तुलसीदासजी ने बड़ी सुन्दर पद्धति से समाधान किया है। उन्होंने कहा कि समुद्र का जल अगर सीधे पियेंगे तब तो खारा लगेगा, पर यदि मेघ के माध्यम से उसी जल का आस्वादन करें, तो उसमें मिठास का अनुभव होता है। यहाँ पर सन्त की भूमिका मेघ की तरह है और सन्त कथा के रूप में जो सुनाता है वह वस्तुतः वेद-पुराणों से ही लिये गये प्रसंग हैं। पर सन्त की विशेषता यह है कि वह उसे आपके सामने ऐसी पद्धति से प्रस्तुत करता है कि जिससे मन-मस्तिष्क पर उसका प्रभाव बुरा न पड़कर अच्छा प्रभाव पड़े, तथा हम अच्छी प्रेरणाएँ ग्रहण कर सकें। इसे एक दूसरे दृष्टान्त के माध्यम से भी कहा जा सकता है।

बाजार में औषधियाँ बिकती हैं और जिसके पास द्रव्य है वह उसको खरीदने में स्वतन्त्र है। अपने मन से औषध का चुनाव करके व्यक्ति उसका सेवन भी कर सकता है और कभी-कभी उससे लाभ होता हुआ भी दिखाई देता है। लेकिन आप लोगों ने देखा होगा कि औषधियों के साथ एक परचा होता है जिसमें लिखा रहता है कि यह केवल चिकित्सकों के लिये है, चिकित्सा करने वाले जो वैद्य अथवा डॉक्टर हैं, वे इसे पढ़ें। इसका अभिप्राय है कि दवा आप अपनी इच्छा से भी चुन सकते हैं और

एक चिकित्सक की राय लेकर भी ले सकते हैं, पर दोनों में एक अन्तर अवश्य है। अपनी इच्छा से ली गयी दवा से लाभ भी हो सकता है और अधकचरा ज्ञान होने के कारण वह व्यक्ति के लिये मृत्यु का संकट भी उत्पन्न कर सकती है। मनमानी दवा लेने वाले व्यक्ति बहुधा अस्वस्थ देखे जाते हैं। इसी प्रकार ग्रन्थ पढ़ने में भी आप स्वतन्त्र हैं। लेकिन उसकी दोनों सम्भावनाएँ हैं। आपका पढ़ा हुआ कभी आपके लिये उपादेय भी सिद्ध हो सकता है और कभी अनर्थ भी कर सकता है। ग्रहण करने पर कभी चित्त पर उसका बुरा प्रभाव भी पड़ सकता है। इसलिए जल तो समुद्र का ही चाहिए, पर सीधे नहीं, अपितु मेघ के द्वारा। इसलिए गोस्वामीजी लिखते हैं कि सन्त तो मेघ है—

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू।
बेद पुरान उदधि घन साधू॥१/३५/३

लेकिन श्रोता में क्या चाहिए? तो कहा गया है कि श्रोता में दो वस्तुएँ चाहिए—जब जल बरसता है तो जमीन का स्पर्श होते ही गन्दा हो जाता है। आकाश का जल कितना स्वच्छ है, लेकिन मिट्टी से मिल करके वह भी मटमैला हो जाता है। जल अगर किसी पत्थर के ऊपर गिरे, स्वच्छ स्थान पर गिरे, तो जल अपने शुद्ध रूप में ही एकत्रित होगा। इसलिए गोस्वामीजी कहते हैं कि—'सुमति-भूमि'—श्रोता की बुद्धि 'सुमति' होनी चाहिए। इसका अभिप्राय है कि श्रोता में अगर कुमति है और ऐसी बुद्धि से जब वह कथा सुनेगा तो मेघ ने चाहे जैसा जल बरसाया हो पर जैसे भूमि के मलिन होने से जल गन्दा हो जाता है उसी प्रकार से ऐसा श्रोता भी अपनी बुद्धि से मनमाना अर्थ ले लेगा। वैसे आजकल ऐसे श्रोताओं की भी कमी नहीं होती है। मैं भी कभी-कभी अपने श्रोताओं से जब सुनता हूँ कि मैंने क्या कहा, तो मैं स्वयं चौंक जाता हूँ कि क्या सचमुच मैंने यह शब्द कहा था। इसलिए बुद्धि की यह विशेषता होनी चाहिए कि कथा जिस रूप में बरसती है, ठीक उसी रूप में ज्यों-का-त्यों उसे ग्रहण करें, उसमें अपना रंग न चढ़ने दे। अपने अन्तःकरण की वासनाएँ-मलिनताएँ उसमें घोल मत दीजिए। इस प्रकार एक सूत्र तो यह है कि हमारी बुद्धि पवित्र है या नहीं? इसके साथ-साथ एक और बड़े महत्त्व की बात यह है कि यदि पत्थर का फर्श हो और पानी बरसा, तो

यद्यपि गन्दगी तो नहीं आई लेकिन इधर पानी बरसा और उधर से बह गया, तो क्या लाभ? इसका अभिप्राय है कि आप बुद्धिमान् तो हों, कथा ऊपर से बरसी और समझ में भी आ गई, पर अगर इधर से सुनी और उधर से (कान से) बह करके निकल गयी तो आपकी बुद्धिमत्ता का क्या लाभ होगा? इसका तात्पर्य है कि कथा को धारण करने के लिये गहराई भी चाहिए। जिस कुण्ड में जल भरेगा, उसका निर्माण ऐसा हो कि जिसमें जल भरे और गन्दा न हो। तब इसका सूत्र देते हुए गोस्वामीजी ने कहा कि श्रोता का हृदय ही गहराई है। इसका अभिप्राय है कि बुद्धि से सुनिए और हृदय में धारण कीजिए–

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू।
बेद पुरान उदधि घन साधू॥१/३५/३
बरषहिं राम सुजस बर बारी।
मधुर मनोहर मंगलकारी॥

जब सन्तों के द्वारा कथा की वर्षा हो रही हो उस समय मन तो लगाना ही है। क्योंकि मन के बिना कथा सुनाई ही नहीं देगी। पर मन से सुनने के बाद हम सजग बुद्धि के द्वारा उसको उसी रूप में ग्रहण करें जिस रूप में कथा कही जा रही है और फिर उसे हृदय में, जीवन में उतारने की चेष्टा करें। जब तक मस्तिष्क, भावना और क्रिया इन तीनों का सामंजस्य जीवन में नहीं होगा, तब तक व्यक्ति के जीवन में सच्चे अर्थों में पूर्णता की अनुभूति नहीं हो सकती।

वर्षा में जल तुरन्त नहीं पीना चाहिए। क्योंकि सम्भव है उसमें कहीं-न-कहीं कुछ मलिनता सम्मिलित हो गयी हो। आपने देखा होगा कि जल बरसने पर नदियों में पानी मटमैला हो जाता है, लेकिन आगे चल करके जब शरद ऋतु आती है, तब तक जल की मिट्टी समय के साथ नीचे बैठ जाती है और जल स्वच्छ हो जाता है। तब पानी पीने में, मिठास में तथा नहाने में सबमें अन्तर पड़ जाता है। ठीक इसी प्रकार से गोस्वामीजी कहते हैं कि श्रवण करना, सुनना वर्षा ऋतु है। यद्यपि श्रवण के बाद उसे क्रियान्वित करना है, पर तुरन्त नहीं, जरा रुकिए। कैसे करना है, किस पद्धति से करना है, यह बड़े महत्त्व की बात है। नहीं तो सुना और कुछ लोग तुरन्त क्रियान्वित करने लग जाते हैं। नाम की महिमा सुनी, तो

तुरन्त माला खरीद ली। सौ-दो सौ माला जप कर डाला और उसके बाद दो-चार दिन में थककर माला खूँटी पर टाँग दी। तीर्थ की महिमा सुनी तो तुरन्त तीर्थयात्रा के लिये चल पड़े और जब धक्के मिले, प्रतिकूल अनुभव हुआ, तो घोर अश्रद्धा का उदय हो गया। इसलिए मन-बुद्धि लगा करके सुनिये और उसके बाद चिन्तन कीजिए कि इसमें हमारे लिये क्या सन्देश है? महाराजश्री दशरथ के जीवन से सम्बन्धित एक बड़ा सुन्दर संकेत आता है।

वर्णन आता है कि महाराज श्रीदशरथ को श्रवण कुमार के माता-पिता ने शाप दे दिया। श्रवण कुमार माता-पिता के बड़े भक्त थे। माता-पिता को कन्धे पर ढोकर तीर्थयात्रा करा रहे थे। उन्हें महाराज श्रीदशरथ का बाण लगा और बेचारे को मृत्यु का ग्रास बनना पड़ा। उनके माता-पिता तीर्थ यात्रा पर थे। इतना अच्छा तीर्थयात्रा का संकल्प लेकर चले थे, पर वह संकल्प अधूरा ही रह गया और उल्टे पुत्र के वियोग में ही प्राण चले गए। तीर्थ में भगवान् का स्मरण करते हुए प्राण जाएँ, इसके स्थान पर पुत्र की ममता से व्याकुल होकर पुत्र का चिन्तन करते हुए मर गए। इस कथा का व्यावहारिक पक्ष भले ही साधारण-सा लगे; किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से यह बड़े महत्त्व का संकेत है।

श्रवण कुमार के माता-पिता अन्धे थे और श्रवणकुमार वे हैं जिसके पास कान की विशेषता है, पर दोनों अधूरे हैं। इसका अभिप्राय है कि एक में देखने की क्षमता नहीं है, केवल सुन करके मान लेने की वृत्ति है और दूसरे के पास देखने की वृत्ति तो है पर विवेक के अभाव में वह सुनी-सुनाई बात को ही अपने स्वधर्म के रूप में स्वीकार कर लेता है। एक ओर देखें तो लगता है श्रवण कुमार माता-पिता के कितने भक्त हैं कि कन्धे पर ले चल रहे हैं, पर दूसरी ओर उसमें व्यंग्यात्मक तात्पर्य है कि माता-पिता को ढो रहे हैं। वस्तुतः धर्म के सच्चे अर्थ को अगर उनके माता-पिता ने समझा होता या श्रवण कुमार ने समझा होता, तो यह अनर्थकारी परिणाम सामने न आता। इसका तात्पर्य है कि जब हम बिना विचार किए केवल सुन करके आज्ञा का पालन करते हैं, तो आज्ञा का पालन भी हमारे लिये बोझ ही होता है। और हम भले ही यह गर्व पाल लें कि हम कितने बड़े आज्ञाकारी हैं पर वस्तुतः आज्ञा पालन का जो लाभ

होना चाहिए, वह लाभ हमें प्राप्त नहीं होता। यहाँ पर प्रश्न यह है कि तीर्थ यात्रा करने का निर्णय करके श्रवण कुमार के माता-पिता ने ठीक निर्णय किया, क्या? वैसे तीर्थयात्रा भी धर्म है, कथा श्रवण भी धर्म है, विविध प्रकार के जप भी धर्म हैं। इस प्रकार धर्म तथा साधना के तो अनेकों रूप हैं और ये अनेकों रूप इसलिए हैं; क्योंकि सबके लिये एक ही साधन उपयोगी नहीं है। इसलिए व्यक्ति को ऐसा साधन चुनना चाहिए कि जिसका वह निर्वाह कर सके और जो उसको लक्ष्य तक पहुँचा दे। सोचिए! अगर वे शरीर से असमर्थ तथा दृष्टिहीन थे तो तीर्थयात्रा का निर्णय उन्होंने उचित नहीं किया। क्या घर में बैठे-बैठे भगवान् का भजन, नाम-स्मरण नहीं हो सकता था, भगवान् की कथा नहीं सुन सकते थे। किन्तु समस्या यह है कि तीर्थ की महिमा उन्होंने सुनी कि तीर्थयात्रा जीवन का परम फल है और उन्होंने यात्रा करने का निर्णय कर लिया। इसका अभिप्राय है कि साधन का उपयुक्त चुनाव श्रवण कुमार तथा उनके माता-पिता ने नहीं किया। दूसरी ओर श्रवण कुमार ने भी आज्ञा का सही तात्पर्य नहीं समझा था। श्रवण कुमार माँ-बाप की सेवा घर में रहकर भी कर सकते थे। और चाहते तो विनम्रतापूर्वक प्रार्थना भी कर सकते थे, कि आपको दृष्टि के अभाव में यात्रा में कष्ट होगा, कोई दृश्य देख भी नहीं सकेंगे। आज्ञा का विवेक अगर उनके मस्तिष्क में स्पष्ट होता तो वे उनको श्रवण तथा भजन करने के लिये आग्रह कर सकते थे। पर उन्होंने तो पिता की आज्ञा को बिना सोचे-समझे शब्द मान लिया। इसीलिए कहा गया है कि–

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां।

कभी-कभी कर्तव्य-कर्म का निर्णय करना, धर्म का निर्णय करना अत्यन्त कठिन हो जाता है, इसीलिए वे लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाए। इसका अभिप्राय है कि साधन का सही चुनाव श्रवण कुमार तथा उनके माता-पिता के द्वारा नहीं किया गया।

केवल सुन करके बिना विचारे मत मान लीजिए। इसलिए पहले विचार कीजिए कि अमुक साधन आपके लिये उपयोगी है कि नहीं, आप की क्षमता के अनुकूल है कि नहीं। यों कह लीजिए कि एक दरिद्र व्यक्ति अगर मन्दिर की महिमा सुनकर सोचने लगे कि मन्दिर बनवाना तो बहुत

बड़े धर्म का कार्य है, बड़े पुण्य का कार्य है और अगर वह मन्दिर बनवाने का निर्णय करे, तो उसने उचित साधन नहीं चुना। केवल मन्दिर बनवाने में ही तो पुण्य नहीं है। शरीर से दूसरों की सेवा करना भी तो पुण्य का कार्य है। करिये न दूसरों की सेवा! पर बड़ी विचित्र बात यह है कि व्यक्ति के पास धन तो है नहीं और वह कल्पना यह करता है कि हमें पुण्य तब मिलेगा जब हम मन्दिर बनवाएँगे और उसके लिये चाहे जो करें–भले ही डाका डाल लें, पर हम मन्दिर जरूर बनवाएँगे। कई बार डाकुओं के सन्दर्भ में ऐसे संस्मरण आते हैं और लोग बड़े प्रभावित होते हैं कि उसने तो मन्दिर बना दिया। लेकिन भाई! दूसरे को लूटकर उसने मन्दिर बना दिया और आपने उसे पुण्य समझ लिया–यह तो धर्म का उपहास है। वस्तुतः जो आपके पास है उसके द्वारा साधन करना ही धर्म का सच्चा स्वरूप है। इसलिए श्रवण कुमार मत बन जाइए। केवल (सुनने) श्रवण की स्थिति में मत रहिए। श्रवण कहने के पश्चात् उस पर मनन भी करिए।

कथा में सभी प्रकार की बातें आती हैं। अनेक प्रकार के साधनों की बातें आती हैं। पर इसमें से चुनना हमें है कि कथा का कौन-सा पात्र हमारे लिये उपयोगी है, कैसे हम उसके द्वारा प्रेरणा प्राप्त करें और हम किस पात्र के रूप में अपने जीवन का निर्माण करें? अगर हम मनन करके सही-सही चुनाव कर लें और उसको जीवन में क्रियान्वित करने की चेष्टा करें तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह हमारे लिये कल्याणकारी होगा। यहाँ पर–

रामकथा मन्दाकिनी चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुबीर बिहारु॥

के पीछे भी कथा का यही संकेत है। भगवान् श्रीराम श्रीसीताजी के साथ चित्रकूट में मन्दाकिनी के तट पर निवास करते हैं! लेकिन मन्दाकिनी की धारा में स्नान करते समय थोड़ा सावधान रहियेगा। क्योंकि यों कह लीजिए कि जैसे कोई गंगाजी स्नान करने चला तो गया, पर माघ महीने की ठण्ड में हवा चलती देखकर डरकर किनारे से ही लौट गया और सोच रहा है कि गंगाजी का दर्शन ही बहुत है अब इसमें गोता कौन लगावे? इसी प्रकार से कई श्रोता कथा में तो आ जाते हैं, पर उनको ऐसा जाड़ा

लगता है कि कथा में बिना स्नान किए ही लौट जाते हैं। केवल कथावाचक का दर्शन करके ही सन्तोष कर लेते हैं। गोस्वामीजी लिखते हैं कि–

जौ करि कष्ट जाइ पुनि कोई।
जातहिं नींद जुड़ाई होई॥१/३८/१

नींद का जाड़ा लगता है और–

जड़ता जाड़ विषम डर लागा।
गएहुँ न मज्जन पाव अभागा॥१/३८/२

वहाँ पहुँच करके भी जड़ता के जाड़े के कारण वह उसे ग्रहण नहीं कर पाता। इसलिए जड़ता के जाड़े से भी बचिएगा और केवल श्रवण कुमारत्व से भी बचियेगा। और साथ ही–

सुमति भूमि स्थल हृदय अगाधू।१/३५/३

के सिद्धान्त से उसे धारण भी करियेगा। पर आप यह तभी कर सकेंगे, जब कथा को सही पद्धति से सुनेंगे, ग्रहण करेंगे।

एक बड़ी समस्या हमारे-आपके सामने यह है कि देश-देश में, प्रान्त-प्रान्त में, परिवार-परिवार में और केवल एक ही परिवार के अनेक सदस्यों में परस्पर झगड़े होते हैं। और तब लगता है कि ये झगड़े कैसे मिटें? वैसे बाहर का झगड़ा मिटाने के लिये तो हम लोग व्यग्र हैं पर जरा विचार कर देखिए, हमारे-आपके भीतर कितना झगड़ा बना हुआ है? भीतर झगड़े का अभिप्राय है हमारे-आपके मन में, बुद्धि में, अहंकार में झगड़ा है कि नहीं। आप देखेंगे कि मन को कुछ अच्छा लगता है, बुद्धि कुछ कह रही है तथा अहंकार की कुछ और माँग है और चित्त में कुछ और बातें भरी हुई हैं। और जैसे एक व्यक्ति को अगर रस्सी से बाँध करके चारों दिशाओं में खींचा जाए, तो बेचारा कैसे चलेगा? इसी प्रकार से मन हमको एक दिशा में ले जाना चाहता है, बुद्धि दूसरी दिशा में, चित्त तीसरी दिशा में और अहंकार चौथी दिशा में। ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति चारों ओर से खिंचाव के कारण अपने लक्ष्य की ओर नहीं बढ़ पा रहा है। इसलिए आवश्यकता यह है कि पहले इन चारों का झगड़ा मिटावें। और साधन करने का उद्देश्य है भीतर के झगड़े को मिटाना। रामचरितमानस में रावण के जीवन में भी यही द्वन्द्व दिखाई दे रहा है।

शूर्पणखा से जब रावण ने सुना कि दो राजकुमारों ने मेरी बहन की

नाक काट ली तो मन में क्रोध का उदय हुआ। अरे! मैं जगत् विजेता रावण और मेरी बहन का इतना बड़ा अपमान। मैं बदला लिये बिना नहीं रहूँगा। मानो मन में कहा–बदला लूँ, पर बुद्धि ने दूसरी बात कही। रावण जब पलँग पर जाकर लेट गया, तो उसकी बुद्धि ने कहा–

खर दूषन मोहि सम बलवंता।
तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता॥३/२२/२

खरदूषन तो मेरे समान बलवान् थे। उन्हें भगवान् को छोड़ करके कौन मार सकता है? इस प्रकार मन कह रहा है राजकुमारों से बदला लो और बुद्धि कह रही है, वे तो भगवान् हैं। उनकी भक्ति करो। पर भक्ति इसलिए नहीं हुई–क्योंकि तीसरा बोल पड़ा–मन ने झगड़े और ईर्ष्या की बात की, बुद्धि ने भक्ति का सन्देश दिया और चित्त में जो संस्कार थे उसने कहा–बिना सोचे-समझे मैंने ईश्वर कैसे मान लिया? अगर है भी तो क्या हुआ? मानो लेटे-लेटे रावण के अन्तःकरण में एक के बाद एक स्वर उठ रहे हैं। जब बुद्धि ने कहा, भगवान् हैं, भजन करो, तो तुरन्त अहंकार बोल उठा, मैं और भजन! बिल्कुल नहीं।

होइहि भजनु न तामस देहा।
मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा॥३/२२/५

एक ही रावण के अन्तःकरण में ईर्ष्या, भक्ति और भजन नहीं करने की परस्पर विरोधी वृत्तियाँ आती हैं। इन सब वृत्तियों में से अहं प्रबल हो गया और उसने सोचा कि पहले हम उसको भगवत्ता की कसौटी पर कसकर देखेंगे। उसने निर्णय किया कि शास्त्रों के अनुसार ईश्वर का लक्षण सर्वज्ञता है। मैं नकली मृग लेकर चलूँगा। अगर वे ईश्वर होंगे तो समझ लेंगे कि नकली है और यदि नहीं पहचान पाएँगे तो समझ लूँगा कि कोई अल्पज्ञ राजकुमार है। ईश्वर की परीक्षा लेने का साहस–यह तो वस्तुतः रावण का अहंकार ही था।

वैसे ईश्वर को पहचानने का रावण के पास एक सरल उपाय भी था। अगर उसके अन्तःकरण में द्वन्द्व उत्पन्न हुआ कि यह ईश्वर है कि नहीं, तो गुरुजी के पास चला जाता और शंकरजी से पूछ देता कि श्रीराम ईश्वर हैं कि मनुष्य, तब तो रावण का जीवन ही धन्य हो जाता, झगड़ा ही मिट जाता। पर रावण के मस्तिष्क में यदि एक क्षण के लिये आया

भी तो अहंकार ने रोक दिया कि दस सिर वाला भला पाँच सिर वाले के पास जाएगा। शंकरजी के पास तो मेरे से आधी ही बुद्धि है। परिणाम यह हुआ कि बहिरंग लड़ाई तो रावण बाद में हारा, पर वह भीतर ही भीतर अपने आप में लड़-लड़कर थक रहा था और उचित निर्णय नहीं कर पाता है।

श्रीराम जब मारीच के पीछे भागे, तो रावण के अहंकार ने कहा—अरी बुद्धि! तू मुझे कैसा धोखा दे रही थी। इसी को ईश्वर बता रही थी। यह तो एक बुद्धिहीन राजकुमार है—बुद्धिमान् होता तो कम-से-कम सोचता कि संसार में आज तक तो कोई सोने का मृग सुना नहीं, क्या यह सम्भव हो सकता है? लेकिन वह स्वर्ण मृग के पीछे भाग रहा है—यह तो ईश्वर नहीं, एक लोभी-बुद्धिहीन राजकुमार है। और इस दुविधा का परिणाम हुआ कि रावण का सर्वनाश हो गया। इसका तात्पर्य है कि जब हमारे अन्तर्जीवन में, मनबुद्धि, चित्त तथा अहंकार में स्वयं द्वन्द्व होगा तो हम साधन नहीं कर पावेंगे। परन्तु साधना में भी क्रम है। पहले मन की साधना कीजिए कि दोष कैसे मिटें, फिर चेष्टा कीजिए कि बुद्धि, अहंकार तथा चित्त की समस्या कैसे मिटे? इनमें सबसे अन्तरंग में चित्त है। "चित्रकूट चित चारु" के रूप में चित्रकूट चित्त का प्रतीक है। परन्तु चित्रकूट तक पहुँचने में काफी समय लगता है। उससे पूर्व बहुत लम्बी साधना का उल्लेख है।

महर्षि विश्वामित्र दोनों राजकुमारों को लेकर जब चले तो पहले ताड़का का वध हुआ, धनुष टूटा और उसके बाद श्रीसीताजी ने भगवान् श्रीराम के गले में जयमाला डाली; किन्तु उसी समय परशुरामजी महाराज आ गए। प्रभु ने उनका भी रोष शान्त किया और जब वे हार मानकर चले गए, तब भगवान् राम और श्रीसीताजी का विवाह सम्पन्न हुआ, दोनों का मिलन हुआ और पूर्ण आनन्द की अनुभूति हुई। अगर हमें और आपको भी अपने जीवन में दोनों के मिलन की आवश्यकता है, तो यही क्रम अपनाना पड़ेगा। पहले प्रभु से प्रार्थना करें कि आप ताड़का का वध कीजिए, फिर अहल्या का उद्धार कीजिए और फिर धनुष को तोड़िए, किन्तु धनुष टूटने के पश्चात् प्रभु से प्रार्थना करें, अब धनुष को खींचिए। किन्तु भाई! अयोध्या से प्रारम्भ होकर विवाह प्रसंग के बीच में घटित होने

वाली जो घटनाएँ हैं, साधना की दृष्टि से उनका क्या अभिप्राय है, इस पर भी थोड़ी-सी दृष्टि डालिए—

ताड़का प्रसंग मन का प्रसंग है। गोस्वामीजी कहते हैं कि मन में रहने वाली दुराशा ही ताड़का है—

सहित दोष दुख दास दुरासा।
दलइ नामु जिमि रबि निसि नासा॥१/२३/५

अर्थात् साधना का श्रीगणेश पहले मन में होता है। किन्तु उसकी विधि क्या है? वस्तुतः मन कल्पना करने में बड़ा निपुण है और वह ऐसी-ऐसी कल्पनाएँ करता है जो व्यक्ति को बड़ा दुःख देती हैं। क्योंकि कल्पनाएँ पूरी तरह से साकार तो हो नहीं सकतीं। इसलिए हम लोगों के दुःख का सबसे बड़ा कारण यह कल्पना-शीलता ही है। मन में हम दुराशा को पाले हुए हैं जो सारे दुःखों की जड़ है। इसी को तुलसीदासजी विनय पत्रिका में मयदानव भी कहते हैं। लंका का निर्माण इसी मयदानव ने किया और यह लंका सोने की थी। सुनने वाले ने कहा, महाराज! सोने की लंका कौन बना सकता है? गोस्वामीजी ने कहा—सन्देह क्यों है? वह तो हम और आप नित्य ही बनाते हैं। आपका मन रूपी जो मयदानव है वह चार सौ कोस क्या, हजार कोस सोने की लंका बना देता है। जब कल्पना में ही बनाना है तो फिर क्या समस्या है? इसीलिए सन्त विश्वामित्र ने साधना का श्रीगणेश यहीं से किया।

ताड़का की कथा यह है कि सुकेतु राजा के कोई पुत्र नहीं था। पुत्र पाने की इच्छा हुई तो उन्होने साधन किया और साधन के द्वारा सन्तान का जन्म तो हुआ पर पुत्र नहीं, अपितु पुत्री हुई। यही है आशा का क्रम—पुत्र चाहा, पर पुत्र नहीं मिला, पुत्री पैदा हुई। दुःखी हो गए, फिर किसी तरह से अपने को समझाया कि पुत्री को ही पुत्र के रूप में परिणत कर लेंगे। इस प्रयत्न में ताड़का न पुत्र बन सकी और न पुत्री रह पाई। इसका अभिप्राय है कि जैसे आप हैं यदि उसी रूप में आपका निर्माण हो, या सदुपयोग हो तब तो ठीक है, पर जो नहीं है अगर वह बनाने का प्रयत्न करेंगे तो मिश्रण बन करके अधूरे रह जाएँगे। सुकेतु राजा की पुत्री अन्ततोगत्वा राक्षसी बन जाती है और दूसरों को खाने लगती है, यही दुराशा की प्रतिक्रिया है। हम मन में जो आशा पालते हैं अगर वह पूरी नहीं होती, तो हम सब क्रोध

से आवेष्टित होकर राक्षस ही बन जाते हैं। यही ताड़का के रूप में दुराशा की वृत्ति है। परन्तु इसमें परिवर्तन कैसे आता है?

आशा से दुराशा, कामना से क्रोध, मानव से दैत्य, यह हमारे जीवन का नित्य का क्रम है। परन्तु प्रश्न यह है कि फिर इस दुराशा को कौन मारेगा? क्योंकि अगर यह कह दिया जाय कि आशा को मार दीजिए तो फिर समस्या यह है कि निराशा प्रभावी हो जावेगी। बहुधा यह देखा जाता है कि कई लोग बड़े आशावादी होते हैं, तो कइयों के मन में बड़ी निराशा छायी रहती है। आशावादी अपूर्ति के कारण यदि अन्त में दुःखी होगा तो निराशावादी दुःख समुद्र में ही रहेगा और तब बहुत बढ़िया उपाय बताया गया कि प्रभु से ही प्रार्थना कीजिए। महर्षि विश्वामित्र ने कहा—राम! इस ताड़का का वध तुम्हीं कर सकते हो और जब श्रीराम ने सुना तो—

एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा।
दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा॥१/२०८ (ख)-६

एक बाण ताड़का के ऊपर चलाया, उसकी मृत्यु हो गयी और ताड़का को भगवान् ने अपने में लीन कर लिया। इस प्रकार ताड़का को मार करके प्रभु अपने में लीन कर लेते हैं। इसका अभिप्राय है कि आशा तो रहे पर संसार से न होकर एकमात्र भगवान् से ही रहे। गोस्वामीजी कहते हैं—

एक भरोसो, एक बल, एक आस बिस्वास।

भगवान् से यदि हम आशा करें तो दोनों तरह से ठीक है। भगवान् तो सर्वसमर्थ हैं, वे चाहें तो हमारी आशा पूरी भी कर सकते हैं और यदि वे हमारा कल्याण समझ करके आशा मिटा दें तो प्रभु कृपा से हमारे अन्तःकरण में वैराग्य आ जाएगा, शान्ति और सद्भाव की सृष्टि होगी, इसलिए भक्ति के मार्ग का एक क्रम यह है कि मन की दुराशा मिट जाए।

आगे चलकर जब प्रभु जनकपुर की ओर चले तो वह अहल्या मिल गयी जो पत्थर हो गयी है। यहाँ से साधना का दूसरा क्रम प्रारम्भ होता है। मन के बाद बुद्धि की ओर बढ़िये, बुद्धि जड़ हो गयी है। फिर भगवान् से प्रार्थना कीजिए—यही एकमात्र समाधान है जिससे सारी समस्याओं का हल हो जाता है। श्रीरामभद्र से महर्षि विश्वामित्र प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि—

गौतम नारि श्राप बस उपल देह धरि धीर।

चरन कमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर॥१/२९०/०

जैसे ही भगवान् के चरणों की धूलि का स्पर्श हुआ अहल्या चैतन्य हो गई, परमशुद्ध हो गयी तथा उसमें रामरस का संचार हो गया—

अति निर्मल बानी अस्तुति ठानी ग्यानगम्य जय रघुराई।१/२९०/६

बुद्धि पवित्र हो गयी और भगवान् की महिमा को जान गई। पर यह धनुष तब टूटेगा जब प्रभु कृपा करें; क्योंकि अहंकार का और इन सभी प्रसंगों—ताड़का वध, अहल्या उद्धार तथा धनुष टूटने में सन्त की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका सीधा-सा तात्पर्य है कि मन, बुद्धि, अहंकार की समस्या का समाधान तो ईश्वर की कृपा से होता है, पर ईश्वर की कृपा बिना सन्त के प्राप्त नहीं होती। धनुष यज्ञ के मण्डप में यद्यपि भगवान् श्रीरामभद्र बैठे हुए हैं और प्रभु के सामने ही महाराज श्रीजनक अत्यन्त दुःखी हो रहे हैं, रानियाँ चिन्तित हैं पर भगवान् राम तब तक नहीं उठे, जब तक कि सन्त का आदेश नहीं हुआ।

दो बार श्रीसीताजी को दाँव पर लगाया गया। एक बार तो धनुष यज्ञ में। जब जनकजी के बन्दियों ने लोभ दिखा दिया, कि जो धनुष तोड़ेगा उसे सीताजी मिलेंगी। और दूसरी बार अंगद के द्वारा रावण की सभा में। अंगद ने रावण की सभा में घोषणा कर दी कि तुम या तुम्हारी सभा का कोई सदस्य अगर मेरा पैर छुड़ा देगा तो मैं सीताजी को हार जाऊँगा। बन्दरों ने पूछ दिया, इस प्रतिज्ञा का क्या उद्देश्य था? अंगद ने कहा कि मैं लोगों का भ्रम दूर करना चाहता था। क्योंकि लोगों को यह भ्रम हो गया था कि भले ही हरण करके सही किन्तु रावण ने सीताजी को प्राप्त कर लिया ही है। और इस बात का लोगों पर यह प्रभाव पड़ता कि चाहे छल से, चाहे बल से, चाहे चोरी करके किसी भी मार्ग से सफलता प्राप्त कर लेना ही जीवन का उद्देश्य है। अंगद की प्रतिज्ञा सुनकर रावण ने तुरन्त अपने सभासदों को आदेश दिया कि इस बन्दर का पैर पकड़ कर फेंक दो और स्वयं भी पैर उठाने की चेष्टा करने लगा। अंगद हँसने लगे और लोगों से कहा, देख लो! अगर सचमुच इसने सीताजी को पा लिया होता, तो जो प्रयत्न यह कर रहा है वह क्यों करता? तब तो कह ही देता—तुम मुझे क्या दोगे? सीता तो मेरे पास ही हैं। अंगद ने अभी तक तो श्रीसीताजी का दर्शन भी कभी नहीं किया था और रावण

ने कई महीनों से श्रीसीताजी को बन्दी बना करके रखा था पर अंगद का व्यंग्य था कि देखे बिना भी मेरे पास माँ की कृपा है और पाने के बाद भी वस्तुतः तुमने पाया नहीं है, यह तो पाने का नकली दिखावा मात्र है।

बन्दरों ने पूछ दिया, अच्छा! यह बताइए! जब आपने प्रतिज्ञा की तब आपको बड़ी चिन्ता हुई होगी—कहीं संयोग से आपका पैर हट ही जाता, तो क्या होता? तो अंगद ने कहा—यह बताओ जो वस्तु मैंने दाँव पर लगाई वह मेरी है या किसी और की? अभिप्राय था कि जब सीताजी प्रभु की शक्ति हैं तो चिन्ता मुझे होनी चाहिए या प्रभु को होनी चाहिए। मैं भला क्यों चिन्ता करूँ? मैंने तो सन्त श्रीहनुमान् की वाणी पर विश्वास कर लिया। क्योंकि हनुमान्जी ने रावण से कहा था कि अगर तुम श्रीराम के चरणों को हृदय में धारण कर लो तो तुम लंका का अचल राज्य करोगे—

राम चरन पंकज उर धरहू।
लंका अचल राजु तुम्ह करहू॥५/२१/१

इसलिए मैंने सोचा कि जब हनुमान्जी यह कहते हैं कि भगवान् का चरण हृदय में धारण करने से लंका का पद अचल हो जाएगा, तो क्या एक बन्दर का पैर अचल नहीं हो सकता!

जनकपुर में दूसरा दृश्य है। वहाँ पर भगवान् राम उठ नहीं रहे हैं। क्यों नहीं उठ रहे हैं। इसके पीछे कारण है। क्योंकि बन्दी कह रहे हैं, जो तोड़ेगा वह सीताजी को पाएगा। और प्रभु हँस रहे हैं, कि सीता मुझसे अलग हैं ही नहीं—

गिरा अरथ जल बीच सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउ सीता राम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥१/१८/०

ऐसी स्थिति में मैं उन्हें प्राप्त करने की क्या चेष्टा करूँगा? जैसे कोई सूर्य से कह दे कि तुम प्रकाश को पाने की चेष्टा करो। चन्द्रमा से कहे कि चन्द्रिका को पाने की चेष्टा करो तो वे भला प्रयत्न करेंगे? वे तो उससे अभिन्न हैं, इसलिए प्रभु नहीं उठे। श्रीरामभद्र का तात्पर्य था कि मुझे तो कोई आवश्यकता नहीं है पर अगर संसार के कल्याण के लिये कोई अपेक्षा है, तो मैं तैयार हूँ। और वह भी विश्वामित्र हो, विश्व का मित्र, सन्त जब आदेश दे तो मैं पालन करूँगा। इसलिए सन्त ने जब कहा—

उठहु राम भंजहु भव चापा।

मेंटहु तात जनक परितापा॥१/२५३/६

तुम जनक का कष्ट, जनकपुरवासियों का कष्ट दूर करने के लिये धनुष तोड़ दो! और जब भगवान् राम उठे भी तो कैसे—

सुनि गुरु बचन चरन सिरु नावा।
हरषु बिषादु न कछु उर आवा॥१/२५३/७

गुरु ईश्वर से अनुरोध करता है और ईश्वर गुरु के संकेत पर अहंकार को नष्ट कर देता है। जब अहंकार टूट जाता है तो—

रही भुवन भर जय-जय बानी।
धनुष भंग धुनि जात न जानी॥१/२६२/७

चारों ओर जयजयकार हो गया। लेकिन इन तीनों के बाद सबसे अन्तरंग में एक और बाकी है।

आगे चलकर परशुरामजी महाराज आ गये और घोषणा कर दी कि जिसने धनुष तोड़ा होगा उसका मैं सिर काट दूँगा। अब तो पूरे राजा अपने-अपने इष्ट देवों को धन्यवाद देने लगे। क्योंकि इनसे जब धनुष नहीं टूटा तो इन लोगों ने अपने इष्टदेवों को उलाहना दिया था। हमने इतने दिन पूजा की और आपने हमसे धनुष नहीं तुड़वाया, पर जब परशुराम आए तो धन्यवाद दिया कि बहुत अच्छा किया जो नहीं तुड़वाया, क्योंकि तुड़वा दिया होता तो ये तो सिर ही काट लेते। पर श्रीराम मुस्करा रहे हैं। वस्तुतः परशुराम तथा भगवान् राम के संवाद का आध्यात्मिक तात्पर्य क्या है?

परशुरामजी के पास भगवान् विष्णु का धनुष है तथा रामचरितमानस की आध्यात्मिक भाषा में—

अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।
मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान्॥१/२५ (क)

अहंकार ही शिव है, मन ही चन्द्रमा है, बुद्धि ही ब्रह्मा है और चित्त ही विष्णु है। यहाँ पर मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त व्यक्ति के नहीं, समष्टि के हैं। मानो ये चतुष्टय विराट् पुरुष के हैं। अन्त में कौन आया, जिनके पास विष्णु भगवान् का धनुष और परीक्षा लेने के लिये उन्होंने श्रीराम से कहा—

राम रमापति कर धनु लेहू।

खैंचहु मिटै मोर संदेहू॥१/२८३/६

मेरे पास विष्णु भगवान् का धनुष है। तुम उसको खींचकर दिखा दो। उनका अभिप्राय था कि ठीक है तुमने बड़े-बड़े काम किए! किन्तु चित्त को खींचने की सामर्थ्य तुममें है कि नहीं? यही अन्तिम कसौटी है और तब श्रीराम मुस्कराए। पर उन्होंने धनुष खींचने का कोई प्रयत्न नहीं किया। उल्टे परशुरामजी के हाथ से धनुष स्वयं निकला और भगवान् राम के पास चला गया और इतना ही नहीं चढ़ भी गया–

देत चापु आपुहिं चलि गयऊ।
परसुराम मन बिसमय भयऊ॥१/२८३/७

परशुरामजी ने भगवान् राम से पूछा–तुमने हाथ क्यों नहीं बढ़ाया? श्रीराम ने कहा कि संसारी लोगों का चित्त खींचना पड़ता है पर आप जैसे महापुरुषों का चित्त बिना खींचे ही चला आता है। इसी प्रकार विष्णु का धनुष जो दिव्य धनुष है उसके लिये हम प्रयत्न करें यह उचित नहीं। जहाँ इन समस्याओं का समाधान हुआ। मन की दुराशा मिटी, बुद्धि की जड़ता दूर हुई, अहंकार खण्डित हो गया तथा चित्त भगवान् की ओर खिंच गया, बस वहीं भगवान् राम और सीताजी का विवाह है, मिलन है। इसी में जीवन की परिपूर्णता है।

मन, बुद्धि, अहंकार की समस्याएँ ही भगवान् राम के वनगमन का कारण बनीं और इन सबका समाधान चित्त के चित्रकूट में हुआ। सारे अनर्थ का हेतु कैकेयी की दुराशा थी। जब उन्होंने श्रीराम की प्रशंसा की, तो यही कहकर की कि–

कौसल्या सम सब महतारी।
रामहि सहज सुभायँ पिआरी॥
मो पर करहिं सनेहु बिसेषी।
मैं करि प्रीति परीक्षा देखी॥

कैकेयी की यह जो कामना है कि राम सब माताओं को चाहें, पर मुझसे विशेष प्रेम करें, यह अगर न होती तो मन्थरा को भड़काने का अवसर न मिलता। यों कह लीजिए कि मन में छिपे संस्कार भले ही अयोध्या में आ करके छिप गये हों, पर वे समय पा करके प्रकट हो गए। अन्तःकरण में छिपे कैकय नरेश सामने आ गए। यह मन का खेल है।

गोस्वामीजी मन्थरा के लिये मन्दमति शब्द का प्रयोग करते हैं–

नाम मन्थरा मंदमति।

इस मन्दमति ने क्या चमत्कार किया कि कैकेयी को भी अपने जैसा ही बना लिया–

कैकय नन्दनि मंदमति।

इसके संग तथा कुशल तर्क से कैकेयीजी का अहंकार उमड़ पड़ा। बुद्धि अपवित्र हो गई। मन को चोट पहुँची और श्रीराम वनवासी हो गए। मन्थरा ने किस कला से भड़काया। उसने कहा कि राम के राज्याभिषेक में आपत्ति नहीं है, पर चौदह दिन से तैयारियाँ हो रही हैं, तुम्हें न राम बताने आए, न लक्ष्मण आए और न ही अन्य किसी ने बताया, तुम सोचो तो, कितना बड़ा षड्यन्त्र है?

हमारे एक स्नेही पत्रकार जब सेवा मुक्त होने लगे तो उनकी अभिनन्दन गोष्ठी में मुझे भी बुलाया गया कि रामायण में पत्रकारिता के सन्दर्भ में मैं कुछ कहूँ। उस अवसर पर मैंने यही कहा कि रामायण में दो प्रकार के संवाददाता हैं। एक मन्थरा की तरह और एक हनुमान्जी की तरह। मन्थरा की भूमिका ऐसी है, जो बैठे-बैठे ऐसा झगड़ा लगा दे कि जहाँ कुछ नहीं है वहाँ पर बवण्डर खड़ा हो जाए। पत्रकारों को यह बड़ी खोज रहती है कि घटना विशेष के पीछे रहस्य क्या है? और यदि चाहें तो उसके पीछे आप कोई बढ़िया बात भी सोच सकते हैं और चाहें तो कोई भयंकर रहस्य की बात भी खोज सकते हैं। मन्थरा तर्क करने की कला में इतनी कुशल है कि उसने कैकेयी के अहं पर चोट करते हुए कह दिया–

रहा प्रथम अब ते दिन बीते।
समउ फिरें रिपु होहिं पिरीते॥१६/६

जानती हैं आप क्या होगा?

कद्दूँ बिनतिह दीन्ह दुखु तुम्हहि कौसिलाँ देब।
भरतु बंदिग्रह सेइहहिं लखनु राम के नेब॥२/१६/०

राम राजा बनेंगे। लक्ष्मण युवराज बनेंगे। आपका बेटा भरत कारागार में डाला जाएगा और आपको क्या करना पड़ेगा–

जौं सुत सहित करहु सेवकाई।

तौ घर रहहु न आन उपाई॥२/१८/८

आपको सौत के चरणों को दबाना होगा; सेवा करनी होगी। कैकेयी में अहम् तो था ही, तिलमिला गई। अच्छा! सारे महल की रानियों ने मुझे इतने दिन सम्मान दिया। कौसल्या का इतना साहस कि वे मुझसे सेवा कराएँगी। इस प्रकार कैकेयी का मन, बुद्धि, अहंकार राम को जीवन से दूर कर देता है। किन्तु मिलन कब होता है, कहाँ होता है तथा किस भूमि में होता है। आगे चलकर सन्त श्रीभरत आते हैं और वे कहते हैं कि बिना चित्रकूट गये कल्याण सम्भव नहीं है।

इसका अभिप्राय है कि मन, बुद्धि, अहंकार के कारण ईश्वर हमारे जीवन से दूर चला गया हो तो **'रामकथा मन्दाकिनी चित्रकूट चित्त चारु'**—चित्त के चित्रकूट में बैठकर कथा सुनिए और तब वहाँ पर भगवान् श्रीराम तथा श्रीकिशोरीजी के दिव्य विहार का अनुभव होगा।

□

॥श्रीरामः शरणं मम॥

नवम प्रवचन

गोस्वामीजी की ऐसी मान्यता है कि लोक कल्याण के लिये रामकथा जितनी उपयोगी है, उतना उपयोगी अन्य कोई माध्यम नहीं है। इसके साथ-साथ वे यह भी कहते हैं कि कथा केवल इतिहास नहीं है, केवल घटनाओं का वर्णन नहीं है अपितु उन घटनाओं को देखने की जो दृष्टि है कथा में उस दृष्टि को विशेष महत्त्व दिया गया है।

त्रेतायुग में श्रीराम का अवतार हुआ। रावण का उन्होंने वध किया, और रामराज्य की स्थापना की। पर भगवान् के चरित्र में यह जो घटनाएँ घटित हुईं, उनके अन्तराल में क्या सूत्र है? उसके लिये **लीला, चरित्र** और **कथा** ये तीन शब्द चुने गए। यद्यपि साधारण व्यक्ति को ये तीनों पर्यायवाची प्रतीत होते हैं, पर तीनों के तात्पर्य में भिन्नता है। चरित्र का अभिप्राय है—किसी व्यक्ति के आचरण में घटित होने वाली घटनाएँ। जो आचरण में प्रस्तुत किया गया है वह चरित्र है। ग्रन्थ का नाम है—श्रीरामचरितमानस। इसका सरल अर्थ है कि ये श्रीराम का चरित्र है, पर ये श्रीराम का चरित्र ही नहीं है, इसलिए इसके साथ एक शब्द **मानस** और जोड़ा गया है। इसका तात्पर्य है कि रामचरितमानस में एक ओर तो भगवान् श्रीराम के चरित्र का वर्णन किया गया है और दूसरी ओर यह आग्रह भी किया गया है कि श्रीराम साक्षात् ईश्वर हैं और ईश्वर होकर के भी वे मनुष्य के रूप में अवतार लेते हैं। रामचरितमानस के लिये एक दूसरा शब्द कहा गया—

गिरिजा सुनहु राम कै लीला।
सुरहित दनुज बिमोहन सीला॥१/११२/८

शंकरजी कहते हैं पार्वती! तुम श्रीराम की लीला सुनो। लीला का अर्थ

तो आप जानते ही हैं। नाटक के मंच पर अभिनय के रूप में जो किया जाता है वह लीला है। वस्तुतः लीला उद्देश्य को सामने रखकर प्रस्तुत की जाती है और लीला में जो घटनाएँ प्रस्तुत की जाती हैं, व्यक्ति का जो आचरण प्रदर्शित हो रहा है, यह आवश्यक नहीं कि वह व्यक्ति के स्वभाव के अन्तर्गत हो। श्रीरामचरितमानस को ये दो उपमाएँ देने का तात्पर्य है कि श्रीराम को यदि हम केवल ईश्वर मान लेंगे तब व्यक्ति श्रीराम के चरित्र का अनुगमन न करने के लिये उनके ईश्वरत्व को बहाने के रूप में प्रस्तुत करेगा कि भाई! ईश्वर जैसा आचरण हम कैसे कर सकते हैं? और यदि हम श्रीराम को केवल व्यक्ति के रूप में स्वीकार करके उनके ईश्वरत्व को अस्वीकार कर दें तो चरित्र के अनुकरण का लाभ होते हुए भी हम उनके ईश्वरत्व से अपरिचित हैं। हमें यह ज्ञान नहीं है कि ये ईश्वर हैं।

हम सभी को यह ज्ञात है कि कैसा आचरण करना चाहिए, पर समस्या हम लोगों के सामने यह है कि सुनकर भी हम आचरण में नहीं उतार पाते और तब उसके लिये दूसरी आवश्यकता यह है कि एक ओर तो हम श्रीराम के चरित्र को जीवन में उतारने की चेष्टा करें और दूसरी ओर श्रीराम ईश्वर हैं, इस रूप में हम उनसे प्रार्थना करके उनसे शक्ति माँगें कि प्रभु! आप ऐसी कृपा कीजिए कि आपने जो अपने चरित्र की पवित्रता का आदर्श हम लोगों के सामने रखा है, उसे हम जीवन में उतार सकें। इसका अभिप्राय यह है कि बहिरंग प्रयत्न के साथ-साथ हमें अन्तर्जीवन में ईश्वर की प्रेरणा, ईश्वर की शक्ति तथा आशीर्वाद भी मिलना चाहिए।

जब हम कहते हैं कि यह श्रीराम की लीला है, तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि श्रीराम ईश्वर हैं और मनुष्य के रूप में जो आचरण वे करते हैं, वह तो रंगमंच पर किया जाने वाला अभिनय मात्र है। किन्तु उसमें एक समस्या यह आती है कि कभी-कभी चरित्र में ऐसी प्रतिकूलता लगती है कि उसको देखकर व्यक्ति को सन्देह होने लगता है। इसे यों कह लीजिए कि जैसे नाट्य मंच पर किए जाने वाले अभिनय में और उसके वास्तविक जीवन में यदि भेद हो, तो दर्शक उलझ जाएगा। रामायण में भगवान् श्रीराघवेन्द्र रावण का वध करते हैं, रामराज्य की स्थापना करते हैं, बड़े-बड़े राक्षसों का विनाश करते हैं, ये लीलाएँ तो हमें प्रिय लगती हैं। पर यदि हमें यह दिखाई पड़े कि श्रीराम जंगल में विलाप करते हुए लता-वृक्षों से

श्रीसीताजी का पता पूछ रहे हैं, तो स्वभावतः उनका यह कार्य विचित्र-सा प्रतीत होता है। इस प्रकार की और भी कई घटनाएँ रामायण में हैं जिनको सुनकर व्यक्ति संशयग्रस्त हो सकता है। और ऐसी स्थिति का निवारण करने के लिये श्रीरामचरितमानस में अनेक संकेत किए गये हैं।

भगवान् शंकर और सतीजी को जोड़ने वाली जो कड़ी है, उसी का नाम कथा है। इसका अभिप्राय यह है कि अगर लीला को देखकर किसी के चरित्र में भ्रम हो, तो उसका निवारण कथा के द्वारा ही हो सकता है। परन्तु समस्या तो तब आती है जब हम कथा श्रवण न करें, जैसा कि सतीजी के प्रसंग में कहा गया है। सतीजी रामकथा में जाकर भी कथा नहीं सुनती हैं और उसके बाद भगवान् राम की लीला देखती हैं। उस समय भगवान् राम विलाप कर रहे थे और लीला देखकर उनको भगवान् के चरित्र पर सन्देह हो गया। उन्हें लगा कि एक ऐसा व्यक्ति जिसकी इतनी आसक्ति है कि सोने के मृग की माँग सुनकर, बिना विचारे ही पत्नी की आज्ञा पालन करने के लिये प्रस्तुत हो गया। और उसके पश्चात् वह एक मृग के ऊपर बाण चला रहा है—उन्हें लगा कि इसको देखकर तो लगता है कि इस व्यक्ति में काम, क्रोध, लोभ तीनों विद्यमान हैं। श्रीसतीजी को यही प्रतीति हुई। पर अगर वे कथा सुन करके आई होतीं और उन्होंने उसको लीला के रूप में देखा होता, तो शायद वे इस भ्रान्ति में न पड़तीं। इसीलिए जब सती के मन में संशय हुआ तो भगवान् शंकर ने यही कहा—

जासु कथा कुंभज रिषि गाई।१/५०/७

अरे सती! अभी तो हम इन्हीं की कथा सुनकर आए हैं। पर आने से क्या होता है? कथा में बैठ करके भी कथा सुन लीजिए, यह कोई आवश्यक तो नहीं है। सतीजी ने तो सुना नहीं था। वे तर्क-वितर्क करती हैं कि क्या ईश्वर का अवतार हो सकता है? क्या निराकार साकार हो सकता है? और यदि ईश्वर साकार भी होगा, तो क्या उसका आचरण इस प्रकार का होगा? पर अन्त में सतीजी का पुनर्जन्म हुआ और सती के रूप में जो बुद्धि थी वह परिवर्तित होकर पार्वती के रूप में श्रद्धा बन गई। और श्रद्धा के रूप में जब वे भगवान् शंकर के समक्ष गयीं तो शंकरजी ने उनको कथा सुनाई तथा रामकथा को सुनकर उनके सारे भ्रम दूर हो गए। मानो कथा का मूलतत्त्व यह है कि घटनाओं को देखते हुए

हमें केवल उनका बहिरंग रूप ही नहीं अपितु उनके पीछे मूल में क्या प्रेरणा है, यह देखना है। उन घटनाओं को हमें किस रूप में, किस अर्थ में लेना चाहिए, यह है कथा की विशेषता।

कथा के अनगिनत रूप हैं। कथा को राजनैतिक दृष्टि से भी देखा जा सकता है; दार्शनिक दृष्टि से भी देखा जा सकता है तथा भावनात्मक दृष्टि से भी देखा जा सकता है और यह तो केवल गिने-चुने शब्द हैं। यह भी कहा जा सकता है कि सृष्टि में जितने व्यक्ति हैं, अगर सब सजग हों, तो स्वयं भी श्रीराम के चरित्र में घटित होने वाली घटनाओं से हमारे लिये क्या उपयोगी है, यह सीख सकते हैं। संसार में जो घटनाएँ हो रही हैं, वे अपने स्थान पर अत्यन्त प्रबल हैं; परन्तु प्रश्न यह है कि सृष्टि की जो समस्याएँ हैं उनका समाधान क्या है? इस सन्दर्भ में बड़े महत्त्वपूर्ण सूत्र दिए गए हैं।

सृष्टि को बदलने की चेष्टा ही रामराज्य है। सारे समाज में कोई दुःखी न रहे, कोई अभावग्रस्त न रहे, कोई मूर्ख न रहे, किसी के चरित्र में दुर्गुण न रहे, यह है समाज को परिवर्तित करने की प्रक्रिया। इसी को भगवान् श्रीराम ने रामराज्य के रूप में साकार किया, पर दूसरे पक्ष को अगर हम भूल जाएँगे, तो समाधान अधूरा रह जाएगा। यद्यपि चेष्टा तो कीजिए सृष्टि को बदलने की, पर कहीं ऐसा न हो कि इसी प्रयास में आप न तो स्वयं को बदल सकें और न ही दूसरे को बदल सकें। तब एक दूसरा सूत्र यह दिया गया कि आप अपनी दृष्टि को ही बदलिए। वैसे दोनों ही ठीक हैं। दृष्टि को बदलना व्यक्ति का निर्माण है और सृष्टि को बदलना समाज का निर्माण है। व्यक्ति तथा समाज एक दूसरे के पूरक हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि हमें समाज को देखने की, सृष्टि को देखने की, एक दृष्टि मिले। और यही तत्त्व आपको गीता में मिलेगा।

गीता में सामने युद्ध की स्थिति है। यद्यपि युद्ध को रोकने की बहुत चेष्टा की गयी पर प्रयत्न सफल नहीं हुआ। तब भगवान् ने अर्जुन से कहा कि तुम मेरा विराट् स्वरूप देखो—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे यौगमैश्वरम्॥ गीता ११-८

मैं तुम्हें जो दिव्य दृष्टि दे रहा हूँ उस दृष्टि से देखो—और अगर विचार करके देखें तो यह बड़े महत्त्व का सूत्र है। सूर्य सबको प्रकाश देता

है; सूर्य का कितना महत्त्व है, पर अगर हम आँखें मूँद लें, तो सूर्य हमें प्रकाश देने में समर्थ नहीं होगा। इसीलिए सृष्टि और दृष्टि दोनों के परिवर्तन की अपेक्षा है। चरित्र में जो घटनाएँ घटीं उसको हम किस दृष्टि से देखते हैं। आपके सामने व्यक्ति, समाज या देश के सामने जो भी समस्या हो उसके सन्दर्भ में आप रामायण को पढ़ें और रामायण के पात्रों से उन घटनाओं को समझने और जोड़ने की चेष्टा करें और यह सोचें कि वर्तमान सन्दर्भ में, तत्काल हमारे जीवन में इस घटना का क्या तात्पर्य है? इसीलिए भगवान् शंकर जब पार्वतीजी को रामकथा सुनाते हैं तो अपनी दृष्टि से। काकभुशुण्डिजी जब गरुड़जी को सुनाते हैं तो अपनी दृष्टि से, याज्ञवल्क्य जब भरद्वाजजी को तीर्थराज प्रयाग में सुनाते हैं तो अपनी दृष्टि से। और श्रीगोस्वामीजी इन सारी दृष्टियों को एकत्रित करके हम लोगों के सामने रख देते हैं और ये निमन्त्रण देते हैं कि आपको इनमें से जो दृष्टि प्रिय लगे, उस दृष्टि से आप रामकथा देखिए, सुनिए, पढ़िए और जीवन में उसका ठीक-ठीक लाभ उठाइए! इस सन्दर्भ में रामकथा के जो अनगिनत रूप हैं वे आपके सामने आते हैं।

रामकथा की तुलना गंगा, यमुना, नर्मदा तथा इस दोहे में मन्दाकिनी से की गयी है। गोस्वामीजी कहते हैं कि जैसे श्रीराम अयोध्या से निकलकर चित्रकूट में आकर के निवास करते हैं, ठीक इसी प्रकार से ऐसा लगता है कि हमारे जीवन से भी ईश्वर दूर चला गया, ईश्वर वनवासी हो गया। हमने अपनी स्वार्थमयी प्रवृत्तियों के कारण उसको निकाल दिया। कैकेयी के द्वारा श्रीराम का अयोध्या से निष्कासन, लोभ और स्वार्थ, काम और क्रोध की वृत्तियों से आक्रान्त होने के कारण हुआ और इस प्रकार वह ईश्वर जीवन से दूर चला गया। तब वह चित्रकूट में आकर निवास करता है। इस सन्दर्भ में रहीम का एक दोहा तो आपने सुना ही होगा। कहा जाता है कि कभी रहीम पर संकट आया तो चित्रकूट में ही जाकर रहे और तब उनका वह बड़ा प्रसिद्ध दोहा है जिसमें वे कहते हैं कि—

चित्रकूट में रमि रहे, रहिमन अवध नरेस।
जापर बिपदा पड़त है, सो आवत एहि देस॥

चित्रकूट सदा से लोगों के लिये आकर्षक रहा है। श्रीराम भी निष्कासित होने पर चित्रकूट में ही आकर निवास करते हैं। हम लोगों के जीवन की

समस्या यह है कि हमारे भीतर मन, बुद्धि तथा अहंकार इन तीनों में परस्पर टकराहट हो रही है। हमारा मन भी दोषों से भर गया है, बुद्धि में भी दोष आ गया है और अहंकार भी प्रबल है। गोस्वामीजी कहते हैं कि चित्रकूट धाम की यात्रा करके, दर्शन करके हम धन्य होते हैं यह तो ठीक ही है, पर होना यह चाहिए कि हम अपने जीवन में भी चित्रकूट का निर्माण करें। क्योंकि मन, बुद्धि तथा अहंकार की जो समस्या है; उसका पूरे अर्थों में समाधान चित्त के माध्यम से ही होता है। वस्तुतः चित्रकूट ही चित्त है और यह राम की कथा मन्दाकिनी है। प्रेम ही वन है और जब ये तीनों (कथा, चित्रकूट की अचलता और राम के प्रति प्रेम) एकत्र होते हैं तो हमारे हृदय में श्रीराम और श्रीसीता स्वयं आकर के आनन्द मनाते हैं, विहार करते हैं।

मन, बुद्धि, अहंकार तो हमारे व्यवहार द्वारा नित्य ही प्रकट हो जाते हैं। मन अपनी चंचलता के द्वारा, बुद्धि निर्णयात्मिका होने के कारण और कार्य के द्वारा अहंकार 'मैं' बोलता है। मैंने यह किया, मैं यह करूँगा, मैं यह करता हूँ। पर इन तीनों के पीछे कौन है? और इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिये हमें चित्त के चित्रकूट में पहुँचना होगा। चित्त के दो रूप हैं। चित्त का विकृत रूप जो अत्यन्त भयानक और शक्तिशाली है उसका वर्णन लंका में रावण वध के प्रसंग में मिलता है।

भगवान् श्रीराघवेन्द्र के द्वारा रावण को मारने की चेष्टा की जा रही है। रावण के सिर कट रहे हैं और रावण की भुजाओं को प्रभु काट रहे हैं, पर कटने के बाद अगले ही क्षण उसके नए सिर और नई भुजाएँ निकल आती हैं। और जब सीताजी ने त्रिजटा से पूछा तथा श्रीराम ने विभीषण से पूछा—"रावण क्यों नहीं मर रहा है और कैसे मरेगा"—त्रिजटा यह कहती है कि जब तक श्रीराघवेन्द्र रावण के हृदय पर प्रहार नहीं करेंगे, तब तक उसकी मृत्यु नहीं होगी। इधर जब रावण के नए सिर और नई भुजाएँ बार-बार निकल रही थीं—और उन्हें काटते-काटते प्रभु श्रमित हो गए—

मरइ न रिपु श्रम भयउ बिसेषा।
राम बिभीषन तन तब देखा॥६/१०१/२

तब प्रभु ने विभीषण की ओर देखा। पार्वतीजी चकित हो गयीं। महाराज! आप तो कथा में कभी-कभी बड़ी विचित्र-सी बात कह देते हैं।

अब भला बताइए! ईश्वर नहीं मार पा रहा है और जीव से पूछ रहा है कि रावण कैसे मरेगा? लेकिन भाई! सुनने में जो लाभ है वह देखने में नहीं। क्योंकि देखने में तो यही भ्रम होता है कि श्रीराम के माथे पर पसीने की बूँदें हैं; और वे विभीषण की ओर देखकर पूछ रहे हैं कि तुम्हारा भाई कैसे मरेगा? किन्तु कथा में तुरन्त शंकरजी सावधान कर देते हैं, नहीं-नहीं पार्वती! इस भ्रम में मत पड़ना। अरे—

उमा काल मर जाकीं ईछा।
सो प्रभु कर जन प्रीति परीछा॥६/१०१/३

वस्तुतः ईश्वर तो काल का भी काल है। परन्तु मूल प्रश्न यह है कि बुराई कब मिटेगी? हमारे जीवन से मूर्तिमान् मोह रावण कैसे मिटेगा? ईश्वर के प्रयत्न से मिटेगा कि जीव के प्रयत्न से।

हम लोग जीवन भर मोह से लड़ते-लड़ते थक जाते हैं। जैसे मनुष्य और देवता रावण से लड़कर बार-बार हारे। ठीक इसी प्रकार हम भी जीवन में बुराई से, मोह से बार-बार हारते हैं। इसीलिए भगवान् से प्रार्थना की जाती है कि आप अवतार लेकर इसका वध कर दीजिए। पर भगवान् जब आते हैं, तो वे कहते हैं कि बुराई को मारना केवल हमारे वश में नहीं है, तुम्हारे सहयोग की भी आवश्यकता है और अगर विचार करके देखें तो यह बिलकुल ठीक है। क्योंकि रोग को मिटाना केवल डॉक्टर या वैद्य के ही हाथ में नहीं है, जब तक रोगी सहयोग न दे। डॉक्टर बहुत बढ़िया दवाई देकर के जाए और रोगी निर्णय कर ले कि हम तो इसे खाएँगे ही नहीं, तो क्या डॉक्टर की वह बहुत बढ़िया पुड़िया रोगी के रोग का विनाश कर सकती है? इसका सांकेतिक अर्थ यह है कि अगर बुराई नहीं मिटती है, तो इसका एकमात्र रहस्य यह है कि बुराई मिटाने की सच्ची इच्छा हमारे मन में नहीं है। हम लोगों की निन्दा मंच पर या आपस में, चाहे कितनी भी करते हों, पर हममें बुराई को मारने की इच्छा नहीं है। वस्तुतः सत्य तो यह है कि हममें-से अधिकांश व्यक्ति बुराई के दुष्परिणाम से बचना चाहते हैं, बुराई से हमें भय नहीं है। इसे एक दृष्टान्त के द्वारा यों कह सकते हैं कि चोरी बुराई है, तथा जेल उसका परिणाम है। और हममें बचने की इच्छा चोरी से नहीं अपितु जेल से है। इसका अर्थ यह हुआ कि हम कोई ऐसा मार्ग ढूँढ़ रहे हैं जिससे हम मनमानी बुराई भोग सकें; किन्तु उसका परिणाम हमें भोगने को न मिले।

भगवान् विभीषण की ओर इसलिए देखते हैं; क्योंकि विभीषण की समस्या मानो जीव की समस्या है, हमारी-आपकी समस्या है। विभीषण स्वयं भगवान् की भक्ति करते हैं। उन्होंने ब्रह्मा से वरदान भी यही माँगा था कि—

गए विभीषन पास पुनि कहेउ पुत्र बर मागु।
तेहि मागेउ भगवंत पद कमल अमल अनुरागु॥१/१७७/०

मुझे भगवान् के चरणों में अनुराग दीजिए। उनके भवन के निकट मन्दिर भी बना हुआ है, वे नित्य पूजा भी करते हैं, पर इतना होते हुए भी रावण को नहीं छोड़ पाते। रावण से नाता नहीं टूटता। और रावण से नाता भी यह कि रावण बड़ा भाई है और हम छोटे भाई हैं। भाई! जब ऐसी स्थिति रहेगी तो फिर रावण कैसे मरेगा? विभीषणजी ने भले ही भक्ति का वरदान माँग लिया हो, पर वे समझौता किए हुए हैं कि रावण अपने मन का काम करे और हम अपनी पूजा करेंगे। और जब तक दोनों में यह समझौता है तब तक रावण नहीं मरेगा। तब सन्त की भूमिका सामने आती है।

प्रश्न यह है कि हनुमान्‌जी को प्रभु ने लंका में क्यों भेजा? यद्यपि लगता है कि उनके माध्यम से भगवान् श्रीराघवेन्द्र ने श्रीसीताजी के पास सन्देशा भेजा, पर वास्तविकता यह है कि श्रीसीताजी के बहाने श्रीराम विभीषण के पास सन्देश भेजना चाहते थे। विभीषणजी ने सन्त हनुमान्‌जी के द्वारा रामकथा सुनी—

तब हनुमन्त कही सब रामकथा निज नाम।
सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिरि गुन ग्राम॥५/६/०

जब हनुमान्‌जी जैसे महान् सन्त भक्त ने कथा सुनाई तो विभीषण के अन्तःकरण में परिवर्तन हुआ। अब उन्हें लगने लगा कि इतने मात्र से भक्ति नहीं होगी। अभी तक वे रावण के मूल सहयोगी थे, मौन भाव से रावण का अन्याय देखते थे। पर अब न्याय मिटाने के लिये जो सन्त आया हुआ है उसको सहयोग देना प्रारम्भ किया। हनुमान्‌जी ने पूछा—आप मुझे सीताजी को पाने की युक्ति बताइए! यद्यपि विभीषणजी युक्ति जानते थे, पर जानते हुए भी वे उसका उपयोग अपने जीवन में नहीं कर पा रहे थे। श्रीसीताजी के पास स्वयं तो नहीं पहुँचे, पर हनुमान्‌जी की सहायता की—

जुगुति बिभीषन सकल सुनाई।
चलेउ पवनसुत बिदा कराई॥५/७/५

इसका अभिप्राय है कि पहले सन्त की वाणी का समर्थन तो कीजिए। कई बार लोग कहते हैं कि कथा कहने से, सुनने से क्या लाभ है? लेकिन रामायण में कहा गया कि नहीं-नहीं—

कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं।
ते गोपद इव भवनिधि तरहीं॥७/१२८/६

अच्छी बात का कम-से-कम समर्थन तो कीजिए। अगर आप बुराई का ही समर्थन करते रहेंगे, तब तो बुराई को और अधिक शक्ति प्राप्त हो जाएगी। इसलिए अच्छी बात का अनुमोदन करने तथा अपनी शक्ति भर चेष्टा करने से कुछ तो अन्तर आएगा! हनुमान्‌जी ने कहा, विभीषण! तुम रावण को क्यों नहीं छोड़ पा रहे हो? वे कहने लगे, क्या बतावें बड़ा भाई पितातुल्य होता है, इसलिए कैसे छोड़ें? तो हनुमान्‌जी ने कहा—अच्छा यह बताओ कि अगर दो भाइयों में मतभेद हो जावे, तो निर्णय करना होगा कि दो भाइयों में से हम किसका साथ दें। आज तुम्हें भी दो भाइयों में से चुनाव करना है और तुम चुन लो। विभीषणजी को आश्चर्य हुआ—यह दूसरा भाई कौन है? तो तुरन्त हनुमान्‌जी ने अपने को सामने कर दिया—

तब हनुमन्त कहा सुनु भ्राता।५/७/४

तुम्हारा एक भाई मैं हूँ और एक भाई है रावण। अब बताओ कि तुम रावण का साथ दोगे कि मेरा। उनके मन में जिज्ञासा हुई कि मैं आपको भाई कैसे मान लूँ! न हमारे देश के, न हमारे प्रान्त के, न हमारी जाति के, न परिवार के। और भाई तो इसी तरह से माना जाता है। हनुमान्‌जी ने क्या बढ़िया शब्द कहा—

देखी चहउँ जानकी माता।

विभीषण! अगर तुम अपने को शरीर समझते हो, तो तुम शरीर की माता को माता मानो पर अगर जीव आत्मतत्त्व है, तो हमारी माता भी सीताजी हैं और तुम्हारी माता भी सीताजी हैं। वस्तुतः शक्ति ही सबकी जननी है। ऐसी स्थिति में तुम शरीर के नाते को महत्त्व दोगे कि आत्मा के नाते को? जरा विचार तो करो। हम लोग जो शरीर और आत्मा दोनों से जुड़े हुए हैं। एक ओर शरीर की माँग है तथा दूसरी ओर आत्मतत्त्व की प्रेरणा है। और आज सन्त ने प्रेरणा दी। सत्संग का प्रभाव विभीषण पर पड़ा और वे यद्यपि चुनाव तो कर लेते हैं—पर अभी पूरी तरह से

साहस नहीं जुटा पाए हैं। अभी जरा छिप-छिप कर समर्थन देते हैं।

आगे चलकर हनुमान्‌जी ने रावण को भी समझाने की चेष्टा की। उन्होंने सोचा, छोटे भाई को तो कथा सुना ही दी थी, अब जरा बड़े भाई को भी सुना दें। वर्णन आता है कि श्रीहनुमान्‌जी ने बड़ी गम्भीर कथा सुनाई, बड़ी दार्शनिक कथा सुनाई–

जदपि कही कपि अति हित बानी।
भगति बिबेक बिरति नय सानी॥

परन्तु रावण जैसा अभिमानी श्रोता भला क्या सुनेगा? गोस्वामीजी ने शब्द भी यही कहा–

बोला बिहँसि महा अभिमानी।
मिला हमहि कपि गुर बड़ ग्यानी॥५/२३/५

अब अभिमान से तो कथा सुनी नहीं जाती। इसलिए सुनते ही उसने कहा, अच्छा! तुम जैसा बन्दर अब हमको ज्ञान देगा! और रावण ने अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करने के लिये कहा–कि मूर्ख! जिस रावण की सभा में तू आया है, उसके पाण्डित्य तथा विद्वत्ता को तू नहीं जानता है। मैं तुझे अपनी विशेषताओं का परिचय देता हूँ। इतना कहकर रावण ने कहा–

मृत्यु निकट आई खल तोही।

देख, मेरे बगल में मृत्यु खड़ी है। कथा सुना रहा है और बगल की मृत्यु को नहीं देख रहा है। हनुमान्‌जी ने देखा तो सचमुच मृत्यु खड़ी थी। देखकर श्रीहनुमान्‌जी मुस्कराये और कहा, रावण! तुम्हारी दृष्टि बड़ी पैनी है। मृत्यु को कोई सशरीर नहीं देख पाता, पर तुमने देख लिया। यहाँ तक तो ठीक है पर दुर्भाग्य यह है कि तुम यह नहीं समझ पाए कि यह किसको खाने के लिये खड़ी है। और वास्तविकता यह थी कि मृत्यु हनुमान्‌जी के पास इसलिए ही खड़ी थी, क्योंकि हनुमान्‌जी शंकरजी के अवतार हैं और शंकरजी काल के देवता हैं–

करालं महाकाल कालं कृपालं।

और जब रावण बड़-बड़ करने लगा तो मानो मृत्यु ने हनुमान्‌जी से पूछा कि महाराज! रावण को अभी खाना है कि कुछ समय बाद मिटाना है? इस प्रकार मृत्यु तो श्रीहनुमान्‌जी के आदेश की प्रतीक्षा कर रही थी। इसका सीधा-सा अभिप्राय यह है कि अभिमानी व्यक्ति दूसरे की मृत्यु की

कल्पना करता है। पर–"मैं भी मरूँगा", यह रावण का सत्य नहीं है। संसार में भी जब कोई कहता है तो यही कहता है कि मैं तुझे मार डालूँगा, तू मरे बिना नहीं रहेगा। अगर विचार करके देखें तो यह कहते समय हम रावण का वाक्य ही दोहराते हैं। क्योंकि सत्य तो यह है कि कोई भी मर सकता है, इसका किसको पता है। इसलिए दूसरे की मृत्यु के स्थान पर अगर हम अपनी मृत्यु पर विचार करें, तो हो सकता है, हमें लाभ हो, हम सावधान हो जाएँ। दूसरे की मृत्यु की बात करके अगर हम अभिमानी बन जाएँ कि हम तो मरेंगे ही नहीं, चाहे सब मर जाएँ। कलियुगवासियों पर व्यंग्य करते हुए तुलसीदासजी ने लिखा कि–

लघु जीवन संवत पंच दसा।
कल्पांत न नास गुमान असा॥

अगर यह वृत्ति आ गई, तो बड़ी घातक होगी। और यही रावण की वृत्ति है। हनुमान्‌जी मुस्कराकर कहते हैं, रावण! मुझे तो लग रहा है उल्टा ही होगा। मृत्यु मुझे नहीं तुम्हीं को खाएगी–

उलटा होइहि कह हनुमाना।
मतिभ्रम तोर प्रगट मैं जाना॥५/२३/४

अभिप्राय यह है कि इतनी बढ़िया कथा सुनने के बाद, अगर कथावाचक को मृत्युदान की ही दक्षिणा दी जा रही है–तो लगता है अब तुम्हारा दुर्भाग्य ही आ गया है। रावण ने कहा, अच्छा! मृत्यु मुझे खाने के लिये आई है? अभी दिखा देता हूँ कि किसको खाने आई है, मुझे या तुझे। उसने राक्षसों को आज्ञा दी कि इस बन्दर का सिर काट लें, तब इसको पता चल जाएगा कि किसको खाने आई है। रावण का वाक्य सुनते ही राक्षस तलवार लेकर के दौड़े। उस समय हनुमान्‌जी ने जो कार्य किया वह बड़ा अनोखा था।

हनुमान्‌जी जैसे लंका जलाते समय नागपाश से मुक्त होकर आकाश में चले गये थे। इस प्रकार चाहते तो अभी भी वे आकाश में चले जाते और फिर राक्षसों की पूरी मरम्मत कर सकते थे, दुर्दशा कर सकते थे। पर हनुमान्‌जी केवल खड़े रहे, उन्होंने कुछ किया नहीं। और न करने के पीछे उद्देश्य यह था कि हनुमान्‌जी दो बातें चाहते थे। पहला तो वे देखना चाहते थे कि कथा का विभीषण पर क्या प्रभाव पड़ा है? और दूसरे मुझे देखकर विभीषण के मन में क्या प्रेरणा मिलती है? इसलिए हनुमान्‌जी

ने निश्चिन्त भाव से चुपचाप खड़े रहकर यह दिखा दिया कि मैं तो ईश्वर के भरोसे निश्चिन्त हूँ, अगर ईश्वर रक्षा करना चाहेगा, तो कोई मारने वाला नहीं है, यह सत्य सामने आ गया। अब विभीषण बदल रहे हैं और उन्होंने भरी सभा में रावण से कह दिया कि–

नाइ सीस करि बिनय बहूता।
नीति बिरोध न मारिअ दूता॥५/२३/७

दूत को मारना नीति के विरुद्ध है। उनका अभिप्राय था कि हनुमान्‌जी को छोड़ दिया जाए। हनुमान्‌जी को लगा कि हाँ! अब परिवर्तन आ रहा है। क्योंकि मौन समर्थन के स्थान पर अब वाणी का प्रयोग मेरी रक्षा के लिये कर रहे हैं, यह प्रभु की ही कृपा शक्ति है, पर हनुमान्‌जी ने सोचा कि अभी तो और भी कुछ आवश्यक है। इसलिए जब हनुमान्‌जी लंका जलाने लगे, तो उन्होंने जान-बूझकर विभीषण का घर छोड़ दिया। क्योंकि वे रावण तथा विभीषण में दूरी पैदा करना चाहते थे और विभीषण के अन्तःकरण में भगवान् राम की सामर्थ्य के प्रति विश्वास दृढ़ करना चाह रहे थे। वे बताना चाहते थे कि सारी लंका जल गई, एकमात्र तुम्हारा ही घर बच गया, यह तो प्रभु का ही चमत्कार है, इसमें मेरी विशेषता थोड़े ही है। दूसरी ओर रावण ने इसका अर्थ यह लिया कि लगता है विभीषण कहीं न कहीं इस बन्दर से मिला हुआ है। क्योंकि जब मैंने इस बन्दर को मारने के लिये कहा, तो यह बचाने आ गया और जब उसने लंका जलाई तो इसका घर छोड़ दिया। अब इसको किसी तरह यहाँ से निकालो, नहीं तो यह राम का भेदिया बन करके लंका का सर्वनाश करा देगा। इसका तात्पर्य यह है कि अगर अच्छे और बुरे व्यक्ति में भेद उत्पन्न हो जाए, अच्छा व्यक्ति बुरे से दूर हट जाय तो इससे बढ़िया सदुपयोग भेद नीति का कोई नहीं हो सकता। और हनुमान्‌जी ने वही किया। और यद्यपि रावण ने मन ही मन गाँठ बाँध ली, लेकिन अब भी विभीषण का भ्राता मोह नहीं मिट रहा है। एक दिन विभीषण रावण को सभा में उपदेश देने लगे–

तात चरन गहि मागउ राखहु मोर दुलार।
सीता देहु राम कहुँ अहित न होइ तुम्हार॥
बुध पुरान श्रुति संमत बानी।
कही विभीषन नीति बखानी॥५/४०/१

पर रावण के पास तो वही वाक्य है जो उसने हनुमान्‌जी से कहा था–अच्छा तू मुझे उपदेश दे रहा है। तो सुन–

सुनत दसानन उठा रिसाई।
खल तोहि निकट मृत्यु अब आई॥५/४०/२

अब तेरी मृत्यु आनेवाली है। विचित्र बात है उसको सबकी मृत्यु दिखाई दे रही है। हनुमान्‌जी की, विभीषण की, अगर नहीं दिखाई दे रही है तो बस अपनी नहीं दिखाई देती है।

आज पहली बार विभीषण ने खुल करके बुराई का विरोध करने का साहस किया और उसके परिणामस्वरूप रावण के द्वारा जब भरी सभा में प्रहार हुआ, तो विभीषण को ऐसी चोट लगी कि उसी क्षण उन्होंने भरी सभा में कहा कि मैं जानता हूँ कि तुम्हारा कल्याण इसी में है। लेकिन तुम अगर यह नहीं करते हो, तो मैं तुम्हारा त्याग करता हूँ। इसका अभिप्राय है कि विभीषण में क्रमशः परिवर्तन आया। पहले बुराई से मिले-जुले थे, फिर बुराई से दूर होते गये और अब बुराई को छोड़ने के लिये प्रस्तुत हो गए। और तुरन्त कह दिया–

रामु सत्यसंकल्प प्रभु सभा काल बस तोरि।
मैं रघुबीर सरन जब जाउँ देहु जनि खोरि॥ १/४१/०

तुम और तुम्हारी सभा काल के वश में है। राम सत्यसंकल्प है। और अब मैं राम की शरण में जा रहा हूँ, मुझे दोष मत देना। यह है बुराई का परित्याग। जाते-जाते विभीषण रावण को पुनः कल्याणकारी उपदेश देते गये। उनके शब्दों में आक्रोश नहीं है, अपितु कल्याण की कामना है। उन्होंने रावण की प्रशंसा करते हुए कहा–

तुम्ह पितु सरिस भलेहिं मोहि मारा।
रामु भजे हित नाथ तुम्हारा॥५/४०/८

और तब वे भगवान् श्रीराम की ओर बढ़े। बुराई का परित्याग करने के पश्चात् भी बुराई में कोई अच्छाई न दिखाई दे, यह मूल सूत्र है। बहुधा हम लोग बुराई इसीलिए नहीं छोड़ पाते हैं, क्योंकि हमें बुराई में अच्छाई दिखती है। विभीषण के जीवन में भी ठीक यही स्थिति है और उसका निराकरण आगे चलकर भगवान् श्रीराम ने किया।

वर्णन आता है कि जब लंका के रणाङ्गण में विभीषण का वध करने

के उद्देश्य से रावण ने शक्ति चलाई उस समय शक्ति को आते देखकर श्रीराम ने विभीषण को तुरन्त पीछे की ओर ढकेल दिया और प्रभु ने उस शक्ति को अपने हृदय पर स्वीकार कर लिया–

तुरत बिभीषन पाछें मेला।
सन्मुख राम सहेउ सोइ सेला॥६/६३/२

इतना ही नहीं प्रभु जान-बूझकर मूर्च्छित हो गए। इसके द्वारा प्रभु मानो जीव को यह संकेत देते हैं कि मेरी सहायता की आवश्यकता तुम्हें ही नहीं है, अपितु तुम्हारी सहायता की आवश्यकता मुझे भी है, इसलिए तुम सहयोग करो। वस्तुतः ईश्वर की शक्तिमत्ता तब तक काम नहीं आएगी, जब तक जीव अपने संकल्प का सहयोग नहीं देगा और मूर्च्छित होने का परिणाम वही हुआ जो प्रभु चाहते थे।

अभी तक तो श्रीराम ही रावण से लड़ते थे, पर जब भगवान् श्रीराम मूर्च्छित होकर गिरे तो विभीषण को भी उत्साह और क्षोभ हुआ और वे गदा लेकर रावण की ओर दौड़े। इससे पहले जब वे सभा से चले थे तब तो 'पितु सरिस' यह कहकर सम्बोधन किया था–

तुम पितु सरिस भलेहि मोहि मारा। ५/४०/८

पर अब उन्हें बुरे की बुराई समझ में आ गयी। इसलिए अब न पिता सरिस, न भाई सरिस। अपितु अब तो सीधे ही दुष्ट कहकर सम्बोधित करते हैं। उनका वाक्य यही है कि–

रे कुभाग्य सठ मंद कुबुद्धे।
तै सुरनर मुनि नाग बिरुद्धे॥
सादर सिव कहुँ सीस चढ़ाए।
एक एक कै कोटिन्ह पाए॥
तेहि कारन खल अब लगि बाँच्यो।
अब तव कालु सीस पर नाच्यो॥६/६३/५

वस्तुतः प्रभु तो मूर्च्छा का नाटक किए हुए थे। इसलिए जब विभीषण ने 'दुष्ट' शब्द कहा, तो प्रभु ने मन-ही-मन सोचा मित्र! यही तो सुनना चाहता था। चलो! अच्छा हुआ रावण का रावणत्व तो तुम्हें समझ में आया। अगर भीतर कहीं से भी बुराई से जुड़े रहोगे, तो बुराई का पूरा विनाश नहीं होगा। उसकी अन्तिम कसौटी तब होती है, जब रावण नहीं

मरता, तो प्रभु विभीषण की ओर देखते हैं–क्या तुम चाहते हो कि बुराई मरे? इसे यों भी कह सकते हैं कि रोगी जब तक अपनी सारी बातें वैद्य को नहीं बताएगा, तब तक वैद्य को दवा देने में सुविधा नहीं होगी। भगवान् कहते हैं, रावण नहीं मर रहा है, तुम चुप क्यों हो? क्या अब भी यह चाहते हो कि रावण बचा रहे–

मरइ न रिपु श्रम भयउ बिसेषा।
राम बिभीषन तन तब देखा॥६/१०१/२

किन्तु परीक्षा में विभीषण सफल हो गए। उन्होंने तुरन्त कहा कि यद्यपि आप सब जानते हैं फिर भी मुझसे पूछ रहे हैं। यह तो आपकी कृपा ही है। और तब विभीषणजी ने उसको मृत्यु का उपाय बताते हुए सूत्र दिया, महाराज!–

नाभिकुंड पीयूष बस याकें।
नाथ जिअत रावनु बल ताकें॥६/१०१/५

रावण की नाभि में अमृत कुण्ड है और इस अमृत कुण्ड को जब तक बाण से सुखा नहीं देंगे तब तक रावण नहीं मरेगा।

रावण तब मरेगा जब चार स्थानों पर प्रहार होगा। 'भुजा' कट जाएँ, 'सिर' कटे, 'हृदय' में बाण लगे और 'नाभि' का अमृतकुण्ड सूखे। यही चारों मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार के केन्द्र हैं। सीधा-सा अभिप्राय है कि बुराई चारों स्थानों से मिटे। मन से, बुद्धि से, अहंकार से और इन सबसे नीचे जो छिपा हुआ है, जो नाभि 'चित्त' का मूल केन्द्र है, उसी में संस्कारों का अमृत कुण्ड है। इसे यों कह लीजिए कि सुन करके हम बुराई का विरोध तो करते हैं, पर चित्त में संस्कारों का ऐसा अमृतकुण्ड है कि जिससे फिर नया सिर निकल आता है। और इसके लिये हमें सिर पर अर्थात् बुद्धि पर प्रहार करना होगा। भुजा पर प्रहार, माने अहंकार पर प्रहार, हृदय पर प्रहार, मानो मन पर प्रहार और नाभि पर प्रहार का अभिप्राय माने चित्त पर प्रहार करना होगा। वस्तुतः प्रभु तो परीक्षा ले ही रहे थे। बाण तो भगवान् राम के पास था ही। प्रभु ने बाण मारकर रावण की नाभि का अमृतकुण्ड सुखाया। जब श्रीराम ने रावण पर इकतीस बाणों से प्रहार किया तो रावण की मृत्यु हो गई। इसका सरल-सा तात्पर्य है कि मन, बुद्धि, अहं के साथ-साथ जब तक चित्त में छिपी हुई बुराइयाँ

न मिटें तब तक पूर्णता नहीं आएगी।

बालक जब जन्म लेता है, तो उसकी नाभि में नाल होता है। ब्रह्मा का जन्म भी भगवान् के नाभिकमल से होता है। ब्रह्मा को ही भगवान् सृष्टि के निर्माण का आदेश देते हैं। यही वह केन्द्र है जहाँ से सारी सृष्टि का विस्तार और निर्माण होता है। नाभि से कमल निकला, उसमें से ब्रह्मा निकले, और ब्रह्मा के द्वारा संसार का निर्माण हुआ। इसका अभिप्राय है कि सारी समस्याओं की जड़ यह चित्त है। और लंका के युद्ध में इस सत्य की ओर संकेत किया गया कि चित्त किस प्रकार से बुराइयों को अमर बनाए हुए है।

दूसरी ओर अयोध्या में भी वही समस्याएँ उत्पन्न हुईं। श्रीराम दूर इसलिए हो गये क्योंकि दशरथजी के मन में काम आ गया, कैकेयीजी में लोभ और क्रोध आ गया। अयोध्या में दोष आए मानो बुद्धि में सारे दोष आ गए। परन्तु श्रीभरत ने बताया कि इसका समाधान चित्रकूट की यात्रा में होगा। लंका में यह नाभि का चित्त, बुराई को जन्म देने वाला चित्त है और चित्रकूट रूपी चित्त बहुत ही दिव्य केन्द्र है, जहाँ पर जाकर समस्त समस्याओं का निराकरण और जीव तथा ब्रह्म का मिलन होता है। श्रीभरत और श्रीराम के मिलन का अभिप्राय है जीव और ब्रह्म का मिलन।

गुरु वसिष्ठ कहते हैं राज्य चलाओ और जब राम आवें, तो राज्य छोड़ देना। यद्यपि श्रीभरतजी ने राज्य चलाया, किन्तु जब चित्रकूट से लौट करके आए, तब राज्य चलाया। और हम लोग चित्रकूट बिना गये ही रामकाज चलाने की चेष्टा करते हैं। यही हमारी भूल है। याद रखिएगा। बिना चित्रकूट गये यदि आप चेष्टा कीजिएगा तो आपकी चेष्टा कभी सफल नहीं होगी। इसका अभिप्राय है चित्रकूट रूपी हमारा चित्त निरुद्ध है कि नहीं, यह सबसे पहले देखिए। परन्तु भाई! चित्तवृत्ति का निरोध कैसे हो? इसका क्या उपाय है?

चित्तवृत्ति के निरोध का एक उपाय तो पातञ्जलि योग दर्शन में मिलता है—जिसमें बताया गया कि किस प्रकार से चित्तवृत्तियों का निरोध किया जाय और अन्त में हम आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करें। वह पद्धति बड़ी कठिन है, केवल बिरले व्यक्तियों के लिये ही सम्भव है, पर रामायण

में बताया गया कि चित्तवृत्तियों के निरोध का एक और उपाय है।

प्रेम का वन है, चित्त का चित्रकूट है और रामकथा की मन्दाकिनी है। रामकथा मन से तो आप सुनते ही हैं, बुद्धि से भी बहुत लोग सुनते हैं पर जरा चित्त में बैठकर प्रेम से भी सुनिए—प्रेम में बड़ी शक्ति है क्योंकि चित्रकूट की जो कथा आती है, वह बड़ी सांकेतिक है।

चित्रकूट पर्वत विन्ध्याचल पर्वत की ही एक शाखा है। पुराणों में यह संकेत करता है कि सूर्य भगवान् सुमेरु पर्वत की परिक्रमा करते हैं, इसको देख करके विन्ध्याचल के अन्तःकरण में इच्छा जाग्रत् हुई कि सूर्य मेरी भी परिक्रमा करें। जब सूर्य से उसने यह कहा, तो सूर्य ने कहा कि हम तो नियम से बँधे हुए हैं, इसलिए हम तुम्हारी परिक्रमा नहीं कर सकते। किन्तु विन्ध्याचल ने कहा, अच्छा! अगर तुम नहीं करोगे, तो हम तुम्हारा प्रकाश धरती तक नहीं पहुँचने देंगे। और जब विन्ध्याचल ऊपर की ओर बढ़ने लगा जिससे ऐसा लगा कि वह सूर्य के प्रकाश को ढक लेगा। इसलिए महर्षि अगस्त्य से प्रार्थना की गयी कि महाराज! आप किसी तरह से विन्ध्याचल को समझाइए। और तब विन्ध्याचल का एक दूसरा ही रूप सामने यह आया कि यद्यपि विन्ध्याचल में महत्त्वाकांक्षा तो थी ही किन्तु उसके मन में सन्तों के प्रति समादर की वृत्ति भी थी। क्योंकि विन्ध्याचल ने ज्यों ही अगस्त्यजी को आते देखा तो उनके चरणों में साष्टांग लेट गए, प्रणाम किया। और पूछा, मुनिदेव! क्या आज्ञा है? अगस्त्यजी ने कहा कि जब तक मैं दक्षिण भारत की तीर्थयात्रा करके न लौटूँ, तब तक तुम ऐसे ही पड़े रहना। और कहा जाता है कि वे दक्षिण भारत में जाकर के बस गए, लौटे ही नहीं, लेकिन तब से विन्ध्याचल बेचारा पड़ा हुआ है। ऐसी कथा हमारे पुराणों में आती है। परन्तु इस कथा का अभिप्राय क्या है? आइए इस पर थोड़ा विचार करें।

विन्ध्याचल के अन्तःकरण में महत्त्वाकांक्षा यह है कि प्रकाश मेरी ही परिक्रमा करे। मानो हम प्रकाश चाहते हैं कि सूर्य का मुखमण्डल मेरे चारों ओर हो। अब प्रश्न यह है कि महत्त्वाकांक्षा अच्छी है अथवा बुरी। अगर विचार करके देखें तो दोनों ही हो सकती हैं। अगर सही दिशा में मुड़ जाए, तो अच्छी है, पर बुरी तब है जब आकांक्षा पूरी न होने पर हम दूसरों के यश-कीर्ति में भी बाधा डालें। इस समस्या का एक सबसे

बढ़िया उपाय यह है, अगर हम में महत्त्वाकांक्षा है तो उस महत्त्वाकांक्षा को सन्त के चरणों में अर्पित कर दें और अभिमान छोड़ करके उनके चरणों में नमन करें। चित्रकूट के रूप में चित्त का यह संस्कार है कि सन्त आदर के पात्र हैं, उनके आशीर्वाद से कामना पूरी हो जाएगी। अगस्त्य चले गए। वे अगस्त्य 'विवेक' हैं इसका अभिप्राय है कि अगर महत्त्वाकांक्षा इतनी ऊपर उठने लगे कि प्रकाश फेल हो जाय तथा अन्धेरा फैल जाय तो कम-से-कम हम सन्त के चरणों में नमन करें, विनम्रतापूर्वक सन्त का आश्रय लें। विवेक का आश्रय लें। विवेक के सामने जब महत्त्वाकांक्षा झुकी, तो उसने कहा तुम इसी तरह से पड़े रहो और फिर नहीं लौटे। कुछ लोगों ने आकर विन्ध्याचल से कहा—अरे! तुम तो पड़े हुए हो और वे तो लौटेंगे ही नहीं, उन्होंने तो तुम्हें छल लिया। पर विन्ध्याचल में एक बहुत बड़ा गुण था। उसके मन में सन्त के प्रति अगाध आस्था थी, उसे वह विश्वास था कि सन्त कभी धोखा नहीं दे सकते। मैं तो उनकी आज्ञा का पालन करूँगा और सिर नहीं उठाऊँगा, ऐसे ही पड़ा रहूँगा। यद्यपि अगस्त्यजी नहीं लौटे। लेकिन चित्रकूट (विन्ध्याचल) सचमुच धन्य हो गया।

वर्णन आता है कि एक दिन विन्ध्याचल के उस शिखर चित्रकूट ने देखा कि श्रीराम चले आ रहे हैं। श्रीराम जब चित्रकूट पहुँचे तो महात्माओं से पूछकर विन्ध्याचल की परिक्रमा करने लगे। आज भी यह परम्परा है, जो लोग चित्रकूट की यात्रा पर जाते हैं, वे श्रीकामदगिरिजी की परिक्रमा करते हैं। गद्‌गद हो गया विन्ध्याचल—अरे! मैं तरस रहा था सूर्य मेरी परिक्रमा करे, पर जिस ब्रह्म के शरीर में कोटि-कोटि सूर्य हैं आज वही मेरी परिक्रमा कर रहा है, यह सन्त की कृपा का ही परिणाम है। वस्तुतः सन्त के प्रति श्रद्धा की इसी वृत्ति के कारण चित्रकूट धन्य हो जाता है। इसका अभिप्राय है कि हमारा विवेक चैतन्य हो, सन्तों के प्रति हमारे जीवन में आस्था हो और अपने को सन्तों के प्रति समर्पित कर दें, बस यही चित्रकूट को परिवर्तित करने की प्रक्रिया है। गोस्वामीजी कहते हैं—चित्त की वृत्ति के निरोध का उपाय बड़ा कठिन है। पर अगर आपके हृदय में प्रेम का उदय हो जाए, चित्त में यदि बिना प्रयास के ही प्रेम छाया हुआ है, तो चित्त अपने आप पवित्र हो जाता है। प्रेम में परिवर्तन की

बड़ी सामर्थ्य है। श्रीभरत इसीलिए सारे अयोध्यावासियों को लेकर चित्रकूट जाते हैं। श्रीभरत के प्रेम के सन्दर्भ में तो सबकी एक ही राय है—

भरतहिं कहहिं सराहि सराही।
राम प्रेम मूरति तनु आही॥२/१८३/४

प्रेम से सराबोर प्रेममूर्ति भरत जब चित्रकूट में प्रवेश करते हैं, तो प्रयत्न से योग के जितने लक्षण आते हैं, वे बिना प्रयास के ही श्रीभरत में दिखाई दे रहे हैं। योगशास्त्र की मान्यता है कि अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमयकोश—ये पंचकोश हैं। तथा इन पाँचों कोशों में प्रवेश करके, उनको पार करते हुए, ब्रह्म से मिलन ही योग का चरम लक्ष्य है। गोस्वामीजी कहते हैं कि जिस समय श्रीभरतजी ने वन को देखा तो उनकी पहली दशा हो गई—

जाइ सुराज सुदेस सुखारी।
होहिं भरत गति तेहि अनुहारी॥२/२३४/४

यहाँ श्रीभरत पहले वन का दर्शन करते हैं, उसके बाद पर्वत का दर्शन करते हैं—

राम सैल सोभा निरखि भरत हृदय अतिपेमु।
तापस तप फलु पाइ जिमि सुखीं सिराने नेमु॥२/२३६/०

पर्वत के पश्चात् श्रीभरत ने आश्रम में प्रवेश किया—

करत प्रबेस मिटे दुःख दावा।
जनु जोगी परमारथु पावा॥२/२३८/३

जोग की स्थिति वहीं रह गई। क्योंकि योगी को जो मिलता है वह तो इस प्रेमी को आश्रम में प्रवेश करते ही मिल गया। अब और भी आगे की स्थिति का वर्णन किया गया और वह स्थिति यह है कि श्री भरत के हृदय में दुःख रह ही नहीं गया, केवल सुख बचा हुआ था। और अब चौथी स्थिति में वे निर्विकल्पता की ओर बढ़ रहे हैं, जिसका वर्णन करते हुए तुलसीदासजी ने लिखा कि—

सानुज सखा समेत मगन मन।
बिसरे हरष सोक सुख-दुख गन॥२/२३९/१

हरष शोक, दुःख-सुख कोई वृत्ति शेष नहीं रह गयी और उसके पश्चात् अन्तिम परिणति हुई—

पाहि नाथ कहि पाहिं गोसाईं।
भूतल परे लकुटि की नाईं॥२/२३६/२

और फिर तो बस, प्रेम, प्रेम, प्रेम। एक ही शब्द की पुनरावृत्ति हो रही है–

बचन सप्रेम लखन पहिचाने।
करत प्रनामु भरत जियँ जाने॥
बंधु सनेह सरस एहि ओरा।
उत साहिब सेवा बस जोरा॥
कहत सप्रेम नाइ महि माथा।
भरत प्रनाम करत रघुनाथा॥२/३३६/३

और जब कानों में शब्द गया तो प्रभु उठे कैसे? बोले–

उठे रामु सुनि प्रेम अधीरा।
कहुँ पट कहुँ निषंग धनुतीरा॥२/२३६/८

बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान॥२/२४०/०

पूरी तरह से अहं विस्मृत हो गया। किसी को स्वयं का भान ही नहीं रह गया। गोस्वामीजी से पूछा गया, श्रीराम बोल क्यों नहीं रहे हैं, श्रीभरत बोल क्यों नहीं रहे हैं? दोनों की आँखों में आँसू क्यों नहीं हैं? रोमाञ्च क्यों नहीं है? गोस्वामीजी ने कहा–भाई! एक स्थिति ऐसी भी पूर्णता की आती है, और यही अन्तिम परिणति है। साधना का अन्तिम लक्ष्य यही है कि–

परम प्रेम पूरन दोउ भाई।
मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥
कहहु सुपेम प्रगट को कराई।
केहि छाया कबि मति अनुसरई॥२/२४०/२

जहाँ पर न तो मन रह गया, न बुद्धि रह गई, न अहं रह गया और न ही चित्त रह गया। श्रीभरत में भरतत्व नहीं, श्रीराम में रामत्व नहीं–अपितु श्रीराम और भरत मिल करके एक हो गए। उसके पश्चात् जब चित्रकूट की भूमि से लौट करके श्रीभरत अयोध्या आते हैं तब कितने सुन्दर व्यवहार का पालन करते हैं। परमार्थ तो उनके रोम-रोम में है। और भाई! रामराज्य की स्थापना की भूमिका तो उसी के द्वारा होती है, जिसने अपने

को पूरी तरह से प्रभु में विलीन कर दिया है, जहाँ एकत्व स्थापित हो गया है।

आप लोग भी यह अनुभव करिये कि आप चित्रकूट की भूमि में बैठे हैं। आपका चित्त अचल बन चुका है और आप रामकथा की मन्दाकिनी में अवगाहन कर रहे हैं। आपके हृदय में प्रेम उमड़ रहा है और विश्वास रखिए कि तब आपके हृदय में भगवान् श्रीराम और श्रीसीताजी अवश्य विहार करेंगे।

॥बोलिए सियावर रामचन्द्र की जय॥

□□□